उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्रजी म.
की ७७ वीं जन्म जयंती के उपलक्ष्य में प्रकाशित

अन्तकृद्दशा-महिमा

लेखक

उप प्रवर्त्तक श्री अमर मुनिजी महाराज के शिष्य मधुर वक्ता

श्री सुयश मुनिजी 'विद्यार्थी'

❀	*प्रकाशक :*	महेन्द्र कुमार जैन द्वारा **पदम प्रकाशन,** नरेला मंडी, दिल्ली–40
❀	*अर्थ सहयोग :*	**श्री श्रीपाल जैन** राकेश स्टील कार्पोरेशन, दिल्ली–35
❀	*प्रथमावृत्ति :*	वि.स. २०५० विजयदशमी (२४ अक्टूबर १९९३)
❀	*मूल्य :*	५०/- रूपया मात्र
❀	*मुद्रण एवं प्राप्ति स्थान :*	**दिवाकर प्रकाशन** A-7, अवागढ़ हाऊस, एम.जी.रोड, आगरा–282 002 दूरभाष : 54328, 53140, 52208 **रमेश चन्द्र जैन** पदम निवास, Z. P. 1, पीतमपुरा, दिल्ली–34
❀	*मुद्रक :*	**मोहन मुद्रणालय,** आगरा



समर्पण

उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक
पूज्य गुरुदेव भण्डारी
श्री पद्मचन्द्रजी
महाराज
की
७७ वीं जन्म-जयन्ती के
मंगल प्रसंग पर



विनीत–
गुरुदेव का चरण सेवक
मुनि सुयश

समर्पण

जैनागम रत्नाकर आचार्य सम्राट परम पूज्य

श्री आत्मारामजी महाराज के प्रशिष्य

उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक, प्रातः स्मरणीय

गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्रजी म.

के पावन—कर कमलों में

सविनय, सभक्ति

—मुनि सुयश

दो शब्द

अन्तकृददशा सूत्र जैन आगमों का महत्वपूर्ण आगम है। पूज्य गुरुदेव उपप्रवर्त्तक श्री अमर मुनिजी म.सा. ने इस आगम का सम्पादन एवं विवेचन किया है और आगम के रहस्यों को चित्रमय अंकित करवाकर जैन आगमों के इतिहास में एक अविस्मरणीय स्वर्णिम अध्याय जोड़ दिया है।

पूज्य गुरुदेव श्री ने मुझे आदेश दिया कि अन्तकृद्दशा सूत्र से सम्बन्धित विविध घटनाओं, प्रसंगों आदि को लेकर मैं एक पुस्तक तैयार करूँ। यद्यपि मैं इस योग्य नहीं हूँ, किंतु गुरुकृपा से पंगु भी पर्वत पर चढ़ जाता है, मूक व्यक्ति भी वाचाल हो जाता है, मूर्ख भी पंड़ित बन जाता है यह सर्व प्रसिध्द है। मुझे भी अपने जीवन में ऐसा ही अनुभव हो रहा है, कि मुझ में इतनी योग्यता, इतनी विद्वत्ता नहीं, हैं परन्तु न जाने कैसे, कहाँ से गुरु-कृपा से ऐसी शक्ति और प्रेरणा मिलती है कि मैं भी कुछ न कुछ कर लेता हूँ। इसमें मेरी विद्वत्ता नहीं, किंतु गुरु-कृपा का ही चमत्कार है।

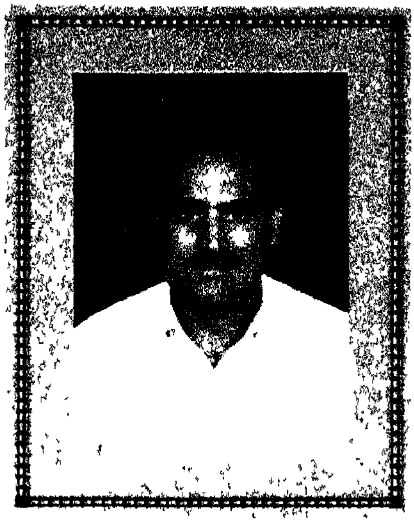
श्री अन्तकृद्दशा सूत्र पर लिखने के लिए मैंने अनेक पुस्तकों का सहयोग लिया है। मूल टीका ग्रंथ के अतिरिक्त आगम-प्रकाशन समिति व्यावर से प्रकाशित-अन्तकृद् दशा सूत्र तथा अन्य विद्वान मुनिवरों द्वारा लिखें हुए अनेक ग्रंथों आदि का अध्ययन/अनुशीलन करके मैं जो कुछ भी लिख सका हूँ वह पाठकों के लिए ज्ञान वर्धक और रुचिकर सिध्द होगा। ऐसा विश्वास है। मैं उन सभी सहयोगी लेखकों/विद्वानों का कृतज्ञ हूँ।

साथ ही गुरुदेव श्री के भक्तमना साहित्यकार श्रीचन्दजी सुराना को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मेरी लिखित सामग्री को संशोधित और सुव्यवस्थित करके एक पुस्तक का रूप प्रदान किया है। पुनः पूज्य गुरुदेव के प्रति हार्दिक कृतज्ञ भावना के साथ विनम्र........

–सुयश मुनि

एस.एस. जैन सभा
गाँधी मँडी, पानीपत (हरियाणा)

प्रकाशन में उदार सहयोग दाता



श्री श्रीपाल जैन

सुपुत्र, श्री सीताराम जी जैन, ग्राम-बरहाना (हरियाणा)

श्री श्रीपालजी के लघु भ्राता मुरारीलालजी जैन हैं। आप दोनों ही बंधुओं में राम-लक्ष्मण जैसा प्रेम है। पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक श्री भंडारी जी म. तथा उपप्रवर्त्तक श्री अमर मुनिजी म. के प्रति आपके परिवार की अगाध श्रद्धा है। आपने प्रस्तुत प्रकाशन में उदार सहयोग प्रदान किया है।

धन्यवाद !

आपका प्रतिष्ठान

मै. राकेश स्टील कारपोरेशन

१६४७/११७, गणेशपुरा–ए

शक्ति नगर, दिल्ली - ११० ०३५

अन्तकृद्दशा-महिमा

विषयानुक्रम

अध्याय 1

अन्तकृद्दशा सूत्र : अन्तर् बाह्य परिचय

मानवीय आकांक्षा

अनादि काल से मानव की एक ही अदृश्य इच्छा रही है, वह है सुख प्राप्ति की, दुःखों का अन्त करने की। यद्यपि यह इच्छा प्राणी मात्र में है, जैसा कि भगवान महावीर ने कहा है–**सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सुह साया, दुक्खा पडिकूला** ....

–संसार के सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सभी को प्रतिकूल है, दुःख से बचना चाहते हैं और सुख पाना चाहते हैं।

मानव संसार का एक ऐसा समर्थ प्राणी है जो अपनी कुशल मेधाशक्ति, उन्नत बल-वीर्य पराक्रम के अनुसार दुःखों का अन्त करने और सुख-प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

मानव की सभी प्रवृत्तियाँ दुःखों का अन्त करने की दिशा में अग्रसर हुई हैं। सुख-प्राप्ति के लिए ही उसने भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति की। महल, बाग-बगीचे, स्कूटर, मोटर, वायुयान, स्पूतनिक, टी.वी. आदि का आविष्कार किया।

जीवन को उन्नतिशील बनाने के लिए उसने अनेक शास्त्रों की रचना की–अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि। इनमें भी सुख-प्राप्ति के नियम और साधन ही निर्धारित किये।

मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना–के अनुसार कुछ लोग भौतिक साधनों में सुख की खोज करते हुए भौतिकवादी बन गये तो कुछ ने स्वयं अपने अन्दर ही सुख की गवेषणा की और आत्मानुभव (self-realisation) में प्रवृत्त होकर आध्यात्मिकता की ओर मुड़ गये।

अति प्राचीनकाल–प्रागैतिहासिक काल से ही भारत आध्यात्मिकता-प्रधान रहा है। धर्म तथा आध्यात्मिकता की आदि (beginning) इसी पवित्र धरा पर हुई, जिसका श्रेय आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर चरम (चौबीसवें) तीर्थंकर भगवान महावीर को है।

द्वादशांगी का महत्व

भगवान महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिए जो उपदेश दिये, उन उपदेशों को महान प्रज्ञावान गणधरों ने बारह अंगों में संकलित किया। यह बारह अंग ही द्वादशांगी कहलाती है।

द्वादशांगी की विशेषता यह है कि यह सर्वज्ञ द्वारा कथित है। सर्वज्ञ भगवान अर्थ-रूप वाणी बोलते हैं, उनके प्रमुख शिष्य गणधर उसे ग्रहण करके शासन के हित के लिए (प्राणीमात्र के कल्याण के लिए) निपुणतापूर्वक सूत्रों की रचना करते हैं।

यही कारण है कि गणधरों द्वारा गूँथे हुए १२ अंग, सूत्र भी कहे जाते हैं।

बारह अंग हैं–१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. भगवती–व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातासूत्र ७. उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक दशा १०. प्रश्न व्याकरण ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद। (यह बारहवाँ दृष्टिवाद अंग लुप्त हो चुका है।)

अन्तकृद्दशा : आठवाँ अंग

उपरोक्त क्रम से प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र द्वादशांगी का आठवाँ अंग या सूत्र है।

जैनदर्शन मे ८ का अंक कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ लिए हुए है, जैसे–सिद्धों के आठ गुण हैं। आत्मा के आठ मूल गुण हैं। मंगल भी आठ हैं। प्रमाद स्थान भी आठ हैं और कर्म भी आठ हैं; जिन्हें नष्ट कर जीव बंधन से छुटकारा पाता है।

प्रस्तुत आठवें अंग में भी ऐसे साधकों का वर्णन है, जिन्होंने अपने संपूर्ण आठ कर्मों का विनाश करके अन्त में अपने लक्ष्य–मुक्ति की प्राप्ति की है।

नामकरण एवं शब्दार्थ

प्रस्तुत अंग का नाम अन्तकृद्दशांग सूत्र है। यह नाम चार शब्दों से मिलकर निष्पन्न हुआ है। वे शब्द हैं-(१) अन्तकृत् (२) दशा (३) अंग (४) सूत्र। इन चारों शब्दों के पृथक्-पृथक् रूप से अर्थ पर विचार करने से प्रस्तुत सूत्र के नामकरण का रहस्य स्पष्ट हो जायेगा।

(१) अन्तकृत्

प्रस्तुत अंग के नाम का यह प्रथम शब्द है–अन्तकृत। इसका अर्थ है–अन्त करने वाले–भवान्त, भव का अन्त करने वाले अथवा जन्म-मरण रूप संसार का अन्त करने वाले। जिस लक्ष्य के लिए साधनामार्ग अपनाया जाता है, उस लक्ष्य को

प्राप्त करने वाले (end-winners), संसार के सभी दुःखों का अन्त करके मुक्ति-सिद्धि प्राप्त करने वाले।

प्रस्तुत सूत्र का यह प्रथम शब्द सार्थक और सटीक है, क्योंकि इसमें उन साधक एवं साधिकाओं का, उनकी साधना, तपस्या आदि का वर्णन किया गया है, जिन्होंने अपना अन्तिम लक्ष्य मुक्ति (salvation) को पाकर अपना मानव-जीवन सफल किया और अनन्त, निराबाध सुख में लीन (beatified) हो गये।

(२) दशा

प्रस्तुत अंग सूत्र के नाम का दूसरा घटक (शब्द) 'दशा' है। 'दशा' शब्द के कोशकारों ने अनेक अर्थ दिये हैं, जैसे—अवस्था, condition, state, degree, being आदि-आदि।

नन्दीसूत्र चूर्णि (पृ. ६८) में भी दशा का अर्थ अवस्था ही दिया गया है।

किन्तु यहाँ 'दशा' शब्द का सामान्य अर्थ अवस्था ग्रहण करना उचित नहीं लगता। आध्यात्मिक प्रसंग और मोक्ष प्राप्त करने वाले साधकों का वर्णन इस सूत्र में होने के कारण सांसारिक अवस्था से मुक्त अवस्था प्राप्त करना ही इसका अर्थ लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, भोगावस्था से योगावस्था की ओर गतिशील होना अथवा आत्मा का अपनी अशुद्ध अवस्था (दशा) से शुद्ध दशा प्राप्ति की ओर प्रयासरत होना। दशा का यही अर्थ ग्रहण करना समुचित है।

दशा का दूसरा अर्थ है—जिस अंग आगम में दश अध्ययन हों, वह दशा कहलाता है। यह अर्थ समवायांग (प्रकीर्णक समवाय ९६), जिनदास गणी महत्तर की नन्दी चूर्णि (पत्र ६८) और हरिभद्र सूरि की नन्दीवृत्ति (पत्र ८३) में स्वीकार किया गया है और कहा गया है—प्रस्तुत सूत्र के प्रथम वर्ग के दश अध्ययनों के कारण इस सूत्र का नाम अन्तकृत् दशा है।

इस सूत्र के आठ वर्गों में से प्रथम, पंचम और अष्टम वर्ग में दस-दस अध्ययन हैं। आदि-मध्यम-अन्तिम की अपेक्षा से विचार करने पर यह दूसरा अर्थ भी माना जा सकता है।

(३) अंग

अन्तकृत्दशांग सूत्र में निविष्ट तीसरा शब्द 'अंग' है।

यह विश्रुत है कि जैन तीर्थंकरों की वाणी को गणधरों ने बारह अंगों में संगुम्फित किया। वे सभी अंग कहलाते हैं। तीर्थंकर की वाणी होने से यह सूत्र भी अंग कहा गया।

(४) सूत्र

अन्तकृत्दशांग सूत्र में प्रयुक्त चौथा शब्द 'सूत्र' है। सूत्र उसे कहा जाता है जिसमें अक्षर तो अल्प हों किन्तु उनका अर्थ विशाल हो; दूसरे शब्दों में, महान अर्थ को गर्भित किये हुए अल्प अक्षरों की शब्द रचना को सूत्र संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

यह सर्वविदित है कि तीर्थंकर भगवान की वाणी महान अर्थ से गर्भित होती है, जिसे गणधर अल्प शब्दों में निबद्ध करते हैं। इस अपेक्षा से प्रस्तुत आगम के लिए सूत्र शब्द भी सटीक है।

संक्षेप में अन्तकृत्+दशा+अंग+सूत्र–इन चार शब्दों के सम्मिलन से प्रस्तुत आगम का 'अन्तकृद्दशांग सूत्र' नाम निष्पन्न हुआ है, जो सटीक और अपनी विषय-वस्तु को प्रगट करने वाला तथा परिचयात्मक है। इस नाम की सार्थकता का परिचय इसमें वर्णित विषय-वस्तु से स्पष्टतया हो जाता है।

आगम का मुख्य परिचय

किसी भी ग्रन्थ के परिचय के लिये प्रमुख ९ अंगो अथवा घटकों को जानना अनिवार्य होता है–

(१) वर्ण्य-वस्तु (subject-matter), (२) इसमे कितने अध्याय आदि हैं, और उनमें क्या वर्णन किया गया है, (३) ग्रन्थ का परिमाण, (४) इन सभी वर्णनों के स्रोत एवं साक्ष्य, (५) ग्रन्थ की भाषा, (६) शैली, (७) वर्णित विषय, (८) प्रेरणाएँ तथा शिक्षाएँ और (९) महत्व। इन सभी के सम्यक् अध्ययन से किसी भी ग्रन्थ का सर्वांगीण परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

इसी रीति से हम प्रस्तुत अन्तकृद्दशांग सूत्र का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. वर्ण्य-वस्तु के स्रोत एवं परिमाण

प्रस्तुत अंग आगम का परिचय चतुर्थ अग समवायांग, समवायांग वृत्ति, नन्दीसूत्र-वृत्ति-चूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

समवायांग में इस अंगसूत्र में दस अध्ययन और सात वर्ग का उल्लेख प्राप्त होता है; जबकि नन्दीसूत्र में आठ वर्गों का उल्लेख तो है परन्तु अध्ययनों का कोई कथन नहीं है कि इसमें कितने अध्ययन हैं।

समवायांग वृत्ति में आचार्य अभयदेव ने उक्त दोनों आगमों के कथन का सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है कि प्रथम वर्ग के दस

अध्ययन और शेष सप्त वर्ग–इस प्रकार ८ वर्ग हो जाते हैं और दोनों आगमों के कथन की संगति बैठ जाती है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक[1] (तत्त्वार्थ सूत्र की टीका) में और आचार्य शुभचन्द्र ने अपने अंगपण्णत्ति[2] ग्रन्थ में दस नाम दिये हैं। कुछ पाठभेद के साथ ये नाम हैं–(१) नमि, (२) मातंग, (३) सोमिल, (४) रामगुप्त, (५) सुदर्शन, (६) यमलोक, (७) वलीक (८) कंबल, (९) पाल और (१०) अंबष्ट पुत्र।

साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि प्रस्तुत अंग आगम में प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में होने वाले दस-दस अन्तकृत केवलियों का वर्णन है।

इसी का समर्थन जयधवलाकर वीरसेन और जयसेन ने भी किया है।[3] किन्तु वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशांग सूत्र में सिर्फ भगवान अरिष्टनेमि और भगवान महावीर के युग के साधकों का वर्णन ही मिलता है। संभव है, काल-दोष के कारण अन्य तीर्थंकरों के युग के अन्तकृत् साधकों का वर्णन अनुपलब्ध हो गया हो। क्योंकि यह तो निर्विवाद तथ्य है कि द्वादशांगी हमें अति संक्षिप्त रूप में प्राप्त-हुई है।

वर्तमान अन्तकृद्दशा का परिमाण

वर्तमान में जो अन्तकृद्दशांग सूत्र उपलब्ध है, उसमें आठ वर्ग और ९० अध्ययन और एक ही श्रुतस्कन्ध हैं। यही परिमाण नन्दी सूत्र मे बताया गया है। अत· स्पष्ट है कि प्रस्तुत अंग आगम नन्दीसूत्र वाचना के अनुसार है। इसमें ९०० श्लोक उपलब्ध होते हैं।

इन आठ वर्गों मे क्रमशः दस, आठ, तेरह, दस, दस, सोलह, तेरह और दस अध्ययन हैं। इनमें से प्रथम पाँच वर्गों के ५१ अध्ययनों में भगवान अरिष्टनेमि के युग के उन साधक-साधिकाओं के जीवनवृत्तों और संयम-साधना का वर्णन हुआ है, जिन्होंने अपने इसी भव से मुक्ति प्राप्त की। छठवें, सातवें, आठवें वर्गों के ३९ अध्ययनों में भगवान महावीर के युग में उसी भव से मुक्ति पाने वाले साधक-साधिकाओं का जीवन-वृत्त विवेचित हुआ है।

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/२०, पृष्ठ ७३

२. अगपण्णत्ति ५१

३. कषाय प्राभृत, भाग १, पृष्ठ १३०

भाषा

अन्य आगमों के समान प्रस्तुत आगम की भाषा भी अर्द्धमागधी है। आगमकारों द्वारा कहा गया है–अर्द्धमागधी भाषा तीर्थंकरों, गणधरों और देवों को प्रिय होती है। तीर्थंकर इसी भाषा में प्रवचन देते हैं। जन-जन की भाषा होने से यह लोकोपकारक और लोकप्रिय होती है। सभी श्रोता इसे सरलता से समझकर अपना आत्म-कल्याण कर सकते हैं।

शैली

प्रस्तुत आगम का निबन्धन कथात्मक होते हुए भी इसकी शैली प्रश्नोत्तरात्मक है। जम्बू स्वामी प्रश्न करते हैं सुधर्मा स्वामी से कि श्रमण भगवान महावीर ने अन्तकृद्दशा के अमुक अध्ययन में क्या कहा है तब सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हुए उस अध्ययन की विषय-वस्तु का वर्णन करते हैं। इस वर्णन में वे पात्र, नगर आदि का वर्णन करते हुए उस व्यक्ति की संयम-साधना और मुक्ति-प्राप्ति तक का दिग्दर्शन कराते हैं।

सुधर्मा स्वामी अपने वर्णन का प्रारम्भ '**तेणं कालेणं तेणं समएणं**–उस काल में, उस समय में, इन शब्दों से करते हैं। प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र के अतिरिक्त ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, विपाकसूत्र और अनुत्तरोपपातिक सूत्र में भी यही शैली अपनाई गई है।

शब्दरचना के सम्बन्ध में अर्द्धमागधी भाषा में दो रूप प्राप्त होते हैं–(१) व्यंजनान्त और (२) स्वरान्त। उदाहरणार्थ–**परिवसति–परिवसइ वण्णतो–वण्णओ आगतो–आगओ** आदि। प्रस्तुत आगम में स्वरान्त शैली का अधिकांशतः प्रयोग हुआ है। स्वरान्त शब्द बोलने में सरल और सुनने में मधुर होते हैं।

आगम लेखन की दो शैलियाँ उपलब्ध होती हैं–(१) अंकयोजना द्वारा संक्षिप्त पाठ, यथा नमंसइ २ त्ता और 'जाव' शब्द द्वारा मध्यवर्ती पाठ को छोड़कर पुनरावृत्ति दोष से बचना तथा दूसरी अंकयोजना को छोड़कर पूरा पाठ देना यथा–नमंसइ; नमंसित्ता।

प्रथम अंकयोजना वाली संक्षिप्त शैली दुरूह है तो जाव शब्द न रखकर पूरा पाठ देना उबाऊ है।

वास्तव में शैली रोचक होनी चाहिए। रोचक शैली अथवा कहने के रुचिकर ढंग से श्रोता अथवा पाठक की रुचि बनी रहती है वह विषय-वस्तु को सरलता से हृदयंगम करके उससे प्रभावित होता है, प्रेरणा प्राप्त करता है।

रोचकता बढ़ाने के लिए कथानक के साथ देश-काल आदि का वर्णन भी आंवश्यक होता है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत आगम की शैली सुसंगठित, सुव्यवस्थित है। इसमें पात्रों के परिचय के साथ उनका चरित्र, वैभव, विवाह, प्राप्तदाय-पुरस्कार, प्रीतिदान आदि के साथ नगर, उद्यान, चैत्य, धर्मकथा, संसार-त्याग, भोगों से विरक्ति, संयमचर्या, तपाराधना, संलेखना, संथारा आदि का सर्वांगपूर्ण वर्णन किया गया है।

उक्त वर्णन शैली श्रोता अथवा पाठक के हृदय में धार्मिक भावनाओं को तंरगायित करती है। साथ ही कुछ ऐसे तथ्य भी उपलब्ध होते हैं, जो काफी महत्वपूर्ण हैं।

जैसे–भगवान महावीर के शासन में धर्म-साधना के द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुले हुए थे। इनके धर्मसंघ में राजा-राजकुमार-रानियाँ प्रव्रजित हुईं तो मंकाई आदि वैश्य भी और अर्जुनमाली भी। सभी साधकों ने साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त की।

साधु-गोचरी के विषय में भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे केवल उच्च वर्ग से ही भिक्षा प्राप्त नहीं करते थे अपितु उच्च-मध्यम-निम्न सभी कुलों में भिक्षा-प्राप्ति के लिए जाते थे यानी समताभावी श्रमणों के हृदय में कुलों के प्रति कोई भेद-भाव नहीं था।

साधकों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट तथ्य

प्रस्तुत अंतकृद्दशा सूत्र में ९० अन्तकृत् केवलियों का वर्णन हुआ है। उनके सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट तथ्य ज्ञातव्य हैं। विभिन्न दृष्टियों से इनका वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन ९० साधकों में ७५ युवक थे, १ बालक और १४ वृद्ध।

५७ पुरुष थे तथा ३३ स्त्री साधिकाएँ।

५५ साधु विवाहित थे और २ साधु कुमार (अविवाहित) अवस्था में प्रव्रजित हुए थे।

२१ साध्वियों ने अपने पतियों से आज्ञा लेकर दीक्षा ग्रहण की, दो साध्वियों के पति पहले ही दीक्षित हो चुके थे तथा १० साध्वियों के पति का स्वर्गवास हो चुका था।

३५ साधु तथा २० साध्वियाँ द्वारका नगर की थीं।

भद्दिलपुर के ६ साधु थे।

काकंदी के २ साधु, वाणिज्यग्राम के दो साधु, श्रावस्ती नगरी के २, पोलासपुर नगर के १, वाराणसी के एक साधु व १ साध्वी तथा साकेतनगर के १ श्रमण थे।

यादव कुल के ३५ साधु एवं १० साध्वियाँ, श्रेष्ठि कुल (नाग गाथापति–सुलसा पुत्र) ६ साधु, २३ साध्वियाँ, क्षत्रिय कुल की (राजा श्रेणिक की रानियाँ) राजकुल के १ साधु, १ राजकुमार और गृहपति कुल के १३ साधु तथा १ माली पुत्र (अर्जुनमालाकार) थे।

४१ साधु भगवान अरिष्टनेमि के शिष्य थे तथा १० श्रमणियाँ यक्षिणी आर्या की शिष्याएँ थीं एवं १६ श्रमण भगवान महावीर के शिष्य तथा २३ श्रमणियाँ आर्या चन्दनबाला की शिष्याएँ थीं।

३३ श्रमण और ३३ श्रमणियों ने ११ अंगों का अध्ययन किया, १२ श्रमणों ने १४ पूर्वों का, १० श्रमणों ने १२ अंगों का तथा २ समिति-गुप्तिधारी श्रमण अंतकृत केवली बनकर मुक्त हुए।

५५ श्रमणो ने एक मास के संथारे से, तथा अर्जुन मालाकार एवं ३३ श्रमणियों ने ३० दिन के संथारे से मुक्ति प्राप्त की किन्तु मुनि गजसुकुमाल बिना संथारे के मुक्त हो गये।

मुनि गजसुकुमाल की १ दिन-रात्रि, अर्जुन मालाकार की ६ मास, २ साधकों की ५ वर्ष, १३ (श्रमणियों) की बारह वर्ष, १६ की २३ वर्ष, १ की २७ वर्ष, १० की (श्रमणियों की) ८ से १७ वर्ष और ४ की बहुत वर्ष की सयम (दीक्षा) पर्याय रही।

४० श्रमणो ने शत्रुंजय पर्वत से, १५ ने विपुलिगिरि से, ३३ श्रमणियों ने उपाश्रयों से, तथा गजसुकुमाल मुनि ने महाकाल श्मशान से मुक्ति प्राप्त की। अर्जुन मालाकार ने किस स्थान से मुक्ति प्राप्त की इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

३२ श्रमणों ने १२ भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना की, २३ ने गुणरत्न-संवत्सर तप किया तथा श्रमणियों ने रत्नावली, कनकावली आदि अनेक प्रकीर्णक तपों की आराधना की।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में वर्णित ९० श्रमण-श्रमणियों ने विभिन्न प्रकार की तपाराधना की और परिणामस्वरूप मुक्ति का वरण किया।

पंचाचार का वर्णन

भगवान महावीर ने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार–इन पाँच प्रकार के आचारों का वर्णन किया है तथा ज्ञान, दर्शन,

चारित्र और तप को मोक्षमार्ग बताया है। प्रस्तुत सूत्र में इन पांचों का प्रक्रियात्मक रूप दिग्दर्शित हुआ है।

मोक्ष की साधना में दर्शन (सम्यग्दर्शन) का मूल स्थान है। देव, गुरु, धर्म पर अटल विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। यह प्रस्तुत सूत्र में श्रेष्ठि सुदर्शन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भगवान महावीर के प्रति दृढ़ विश्वास का ही यह फल था कि उसकी आत्मा धर्म-तेज से जगमगा उठी और उस आत्म-धर्म तेज को यक्ष मुद्गरपाणि भी न सह सका, अर्जुनमाली के शरीर में से निकल भागा।

ज्ञान और दर्शन की आराधना सभी साधक-साधिकाएँ करते हैं, चारित्र का भी पालन करते हैं लेकिन जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–**तवेण परिसुज्झई**–आत्मा तप से शुद्ध–विशुद्ध–परिशुद्ध होती है। अतः आत्म-शुद्धि के लिए तप एक महत्वपूर्ण रसायन है।

प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न प्रकार के तपों का बड़ा ही रोमांचकारी और हृदयग्राही वर्णन हुआ है। श्रमणो और श्रमणियों की तपाराधना का वर्णन सुन-पढ़कर श्रोता-पाठक के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उन साधक-साधिकाओं के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है। हृदय भाव-विभोर हो जाता है। भावुक हृदय में यही हिलोर उठती है–मैं भी ऐसी उत्कृष्ट तपोसाधना[१] मे सक्षम हो सकूँ।

प्रस्तुत आगम की प्रेरणाएँ

१. श्रेष्ठि सुदर्शन जैसी अटल और प्रगाढ़ श्रद्धा तथा विश्वास देव-गुरु-धर्म के प्रति हो।

२. मुनि गजसुकुमाल जैसी कष्ट सहिष्णुता, क्षमा भाव, उपसर्ग-सहन और समताभाव।

(३) अर्जुनमाली जैसी तितिक्षा और क्षमा।

(४) वासुदेव श्रीकृष्ण जैसा सेवा-सहयोग, धर्म-दलाली और अरिहंत-वचनों मे विश्वास।

(५) त्याग-वृत्ति श्रीकृष्ण वासुदेव की आठ अग्रमहिषियों के समान और तपाराधना राजा श्रेणिक की रानियों जैसी।

---

१. **नोट**–विभिन्न प्रकार के तप, भिक्षु प्रतिओं, प्रतिमा योग का विशद वर्णन इसी पुस्तक के आगामी अध्यायों में किया गया है। वहाँ देखें।

इस प्रकार इस सूत्र में ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और धर्म-पालन, दृढ़ विश्वास आदि की अनेक प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं।

उपसंहार

यद्यपि यह सूत्र संक्षिप्त है, छोटा है, आकार में लघु है; लेकिन सतसैया के दोहों के समान घाव गंभीर करता है, भावुक हृदय की भाव भूमि को आन्दोलित कर देता है, भोगमय जीवन को त्यागकर योग की बलवती प्रेरणा देता है। सर्वज्ञ कथित होने से इसका एक-एक शब्द महान अर्थ से गर्भित है।

यही कारण है कि इस सूत्र का वाचन पर्युषण के आठ दिनों में किया जाता है जिससे भव्य आत्माएँ तपाराधना की ओर उन्मुख होकर अपनी आत्मशुद्धि में प्रवृत्त होती हैं।

निष्कर्षतः यह सूत्र तपाराधना द्वारा आत्म-शुद्धि और मुक्ति-प्राप्ति का प्रबल प्रेरक है।

● ●

अध्याय २

अन्तक्रिया : अर्थ और उदाहरण

अन्तकृद् सूत्र शब्द के साथ एक अर्थ और भी जुड़ा है–अन्त क्रिया।

जैन सूत्रों में अन्तक्रिया शब्द बहुत प्रसिद्ध है। अन्तगड सूत्र, स्थानांग, भगवती तथा प्रज्ञापना सूत्र में इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है।

कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ या भाव शब्द का अनुसरण करता है किन्तु कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ जैसा दीखता है, वैसा नहीं होकर कुछ विशिष्ट भाव द्योतित करता है। अन्त-क्रिया शब्द ऐसा ही शब्द है। जिसका अर्थ शब्दानुलक्ष्यी कम, विशिष्ट क्रिया लक्ष्यी अधिक है। सामान्यतः अन्तक्रिया शब्द का अर्थ है, अन्तिम क्रिया। प्राणी जब देह त्यागकर देता है, तब उसका शरीर निर्जीव हो जाता है, जिसे "शव" कहते हैं। उस निर्जीव शरीर को जलाना या जल प्रवाह में विसर्जित करना आदि जो अन्तिम संस्कार होता है, उसे "अन्तक्रिया" कहा जाता है-यह लोक प्रचलित अर्थ है, किन्तु जैनदर्शन इस शब्द का अतिसूक्ष्म और अत्यन्त भावयुक्त अर्थ करता है। इसलिए वहां अन्तक्रिया शब्द प्रायः निश्चयनय की दृष्टि से व्याख्यायित हुआ है, जिसे "एवंभूत नय" भी कह सकते हैं, अर्थात् इस शब्द का वास्तविक और यथार्थ में परिणत अर्थ ही वहां "अन्तक्रिया"शब्द से जाना गया है।

प्रज्ञापनासूत्र के बीसवे अन्तकिरिया पद में अन्तक्रिया के स्वरूप और चौबीस दण्डकों में कब कौन जीव अन्त-क्रिया करता है, इसका विस्तृत वर्णन है। टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने वहां अन्तक्रिया के दोनों ही अर्थ किये हैं–पहला अर्थ है–**शरीरान्त**–एक भव के शरीरादि से छूटना–मरना तथा दूसरा अर्थ है–**भवान्त**–जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाना–मोक्ष। जैसा कि टीका में कहा है–"**अन्तक्रियामिति अन्तः अवसानं। तच्च प्रस्तावादिह कर्मणा मवसातव्यम्**" (वृत्ति पत्र ३९७) अन्तक्रिया-अर्थात् अवसान (समाप्ति–मरण) तथा प्रसंगानुसार सर्व कर्मों का नाश! इस प्रकार प्रज्ञापना सूत्रगत वर्णन में अन्तक्रिया, मरण एवं मोक्ष दोनों ही अर्थों में घटित हुआ है। और दोनों दृष्टियों से वहां अन्तक्रिया का विचार किया गया है। किन्तु स्थानांगसूत्र में सिर्फ "मोक्षप्राप्ति"अर्थ में ही चार अन्तक्रियाओं का वर्णन है।

शब्द का अर्थ :

अन्तगड एवं स्थानांगसूत्र के अनुसार अन्त-क्रिया का अर्थ है-अन्तिम क्रिया। अर्थात् जिसके पश्चात् अन्य कोई क्रिया शेष नहीं रह जाती हो, वह है अन्तक्रिया। शरीर का चिता-संस्कार लौकिक दृष्टि से भले ही अन्तिम क्रिया हो, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह अन्तिम क्रिया नही है, क्योंकि जिसे हम "मृत्यु"कहते हैं, वह तो मात्र औदारिक या वैक्रिय शरीर को छोड़ना है।[1] मनुष्य और तिर्यच के औदारिक शरीर हैं, किन्तु इसके साथ ही सूक्ष्म रूप में दो शरीर निश्चित रूप में और भी हैं, वे हैं तैजस् और कार्मण। प्रत्येक संसारी प्राणी के साथ ये दो शरीर अनिवार्य रूप में रहते ही हैं। भोजन आदि का पाचन, शरीर की उष्णता आदि कार्य तैजस् शरीर का है तो जीव की लोकान्तर यात्रा, एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की प्राप्ति वहां पर सुख-दुःख आदि का उपयोग यह सभी कार्मण शरीर के संयोग से होता है। मृत्युकाल में मनुष्य का स्थूल-औदारिक शरीर छूटता है, सूक्ष्म शरीर-तैजस् और कार्मण शरीर उसके साथ ही रहते हैं। इस प्रकार मृत्यु का अर्थ सिर्फ औदारिक या वैक्रिय (स्थूल) शरीर का छूटना है। सूक्ष्म कार्मण शरीर के कारण पुनः स्थूल शरीर–औदारिक या वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है–इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है।

जब तक तैजस्-कार्मण शरीर नहीं छूटते, तब तक जन्म-मरण का अन्त नहीं होता, तो वास्तव में अन्तक्रिया भी नहीं होती, यह निश्चयनय की मान्यता है। सूक्ष्म शरीर का छूटना ही अन्तिम क्रिया या अन्त क्रिया होती है। इसलिए टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने कहा है–"**कर्मान्तस्य क्रिया-अन्त्य-क्रिया, कृत्स्न कर्मक्षयलक्षणा**":(भग. २/२ टीका) कर्म का अन्त करने वाली क्रिया अन्तक्रिया है, अर्थात् सपूर्ण कर्म क्षय रूप मोक्ष की प्राप्ति ही वास्तव मे अन्तक्रिया है। इस प्रकार "अन्तक्रिया" शब्द का प्रयोग उसके वास्तविक स्वरूप को प्रगट करने वाला है। अर्थात् यहां शब्द और अर्थ दोनो एक-दूसरे के बहुत निकट हैं।

अन्तक्रिया के चार प्रकार :

प्रज्ञापना में पूछा गया है–

जीवेण भन्ते ! अन्तकिरियं करेज्जा ?

गोयमा! अत्थे गइए करेज्जा ! अत्थेगइए णो करेज्जा ! –२० वां पद

भन्ते! जीव अन्तक्रिया करता है ?

गौतम, कोई जीव अन्तक्रिया करता है, कोई जीव नहीं करता।

---

१. गीता के अनुसार भी यह मृत्यु पुराना वस्त्र छोडकर नया वस्त्र धारण करने की तरह, पुराना देह त्यागकर नया देह धारण करना है।

जो जीव अन्तक्रिया अर्थात् उसी भव से मोक्ष-प्राप्ति नहीं कर सकते, वे हैं-नारकी, असुरकुमार आदि चारों जाति के देव, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय से लेकर विकलेन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तक के जीव, तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा असंज्ञी मनुष्य, आदि, अन्तक्रिया नही करते, सज्ञी मनुष्यों में भी सिर्फ कर्मभूमिज मनुष्य तथा महाविदेह में जन्म लेने वाले मनुष्य ही अन्तक्रिया करते हैं।

इसका अभिप्राय है, चौबीस दण्डको में मनुष्य और वह भी बहुत सीमित क्षेत्रवर्ती ही उस भव में कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाकी जीव उस भव से निकलकर मानव भव में आयेंगे और सभी प्रकार की अनुकूल सामग्री प्राप्त करेंगे तभी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य जन्म की यह सबसे बड़ी सार्थकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में इसीलिए तो कहा है-

चौरासी लक्ष्य जीवयोनियों में भटकता हुआ जीव अनन्त-अनन्त पुण्य का उदय होने पर, विशेष विशुद्धि-उज्ज्वलता होने पर ही मनुष्य गति में आता है।

जीवा सोहि मणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं।

मनुष्य गति प्राप्त होने पर भी सब अनुकूल-संयोग मिलने पर ही जीव अन्तक्रिया करने मे समर्थ होता है।

- **चार प्रकार की अन्तक्रिया-**

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के प्रथम सूत्र में चार प्रकार की अन्तक्रियाओं का वर्णन है।

चत्तारि अन्त किरियाओ पण्णत्ताओ।

तं जहा-तत्थ खलु इमा पढमा अन्तकिरिया

अप्प कम्म पच्चायाते यावि भवति।

से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजम बहुले, संवर बहुले समाहि बहुले, लूहे, तीरट्ठी, उवहाणवं दुक्खखवे तवस्सी।

तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवति, णो तहप्पगारा वेयणा भवति।

तहप्पगारे पुरिस जाते दीहेणे परियाएणं

सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति, परिणिव्वाति, सव्व दुक्खाणमंतं करेइ,

जहा-से भरहे राया चाउरंत चक्कवट्टी।

पढमा अन्तकिरिया।

चार प्रकार की अन्तक्रिया बताई है (होती है)।

प्रथम अन्तक्रिया–

कोई पुरुष अल्पकर्मों के साथ (पूर्वजन्म में तप आदि द्वारा विशेष रूप में कर्मों का क्षय करने के कारण अल्प कर्म शेष रह गये हों, वैसा लघुकर्मी-हलुकर्मी जीव-अल्पकर्मा कहा जाता है)। मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है। वह विरक्त होने पर, मुण्ड होकर (केश एवं कषायों को लुंचित करके) घर छोड़कर अनगार रूप में प्रव्रजित होता है।

वह संयम बहुल, संवर-बहुल[१] (सयम एंव संवर की साधना में विशेष रूप में उद्यत) तथा समाधि-बहुल होता है।[२] वह रूक्ष-स्नेहराग रहित होकर, तीर का अर्थी–संसार समुद्र को पार करने का इच्छुक, उपधानवान् (श्रुताराधनापूर्वक तप करने वाला) दुःख को खपाने वाला, तथा तपस्वी होता है।

उसका न तो तथा प्रकार का घोर तप होता है, न तथा प्रकार की घोर वेदना होती है।

इस प्रकार का पुरुष–दीर्घकालीन मुनि पर्याय के द्वारा–दीर्घ संयम तक मुनि धर्म का पालन करता हुआ, सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त और परिनिवृत्त होता है। वह सब दुखो का अन्त करता है।

इसका उदाहरण है–चक्रवर्ती भरत !

यह पहली अन्तक्रिया है-अल्पकर्म, अल्पवेदना, तथा दीर्घकालीन मुनि पर्याय वाले पुरुष की अन्तक्रिया।

चार प्रकार की अन्तक्रिया के उदाहरण

अल्पकर्मा भरत चक्रवर्ती

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भारत षट्खंड के अधिपति चक्रवर्ती सम्राट थे। उनकी ऋध्दि वैभव का कोई पार नहीं था। मनुष्य ही क्या, देवता भी उनकी आज्ञा का

---

१. संयम एवं संवर शब्द प्रायः समानार्थक होते हुए भी इनके स्वरूप में अंतर है। १७ प्रकार का संयम जहाँ बताया है, वहाँ संयम का स्वरूप है–पांच इन्द्रिय, मन आदि को वश में करना तथा पृथ्वीकाय आदि षट्काय जीवों की रक्षा करना।
सवर का स्वरूप है–अठारह प्रकार के पाप स्थानों के सेवन से आत्मा को रोकना, इन्द्रिय कषायनिग्रह तथा पांच आश्रव द्वारों का निरोध करना
–सचित्र अर्धमागधी कोष भाग-४ पृष्ठ ५६४, ५३४।

२ समाधिस्तु प्रशमवाहिता–(टीका) चित्त की प्रशमधारा–शान्त और प्रसन्न मनःस्थिति समाधि है। सम-अधि-अर्थात् मानसिक चिन्ताएँ जहाँ "सम" हो गई हैं, विषमता समाप्त होकर समता का अनुभव करना समाधि है।

पालन करते थे। फिर भी राज्य संपदा के प्रति, सांसारिक सुखों के प्रति उनके मन में अनासक्ति और उदासीनता थी। जिस प्रकार एक धाय माता दूसरों के बालकों का पालन-पोषण करती है, किन्तु मन में वह उन्हें अपना पुत्र नहीं मानती, न स्वयं को उनकी "माँ" मानने की भूल करती है, उसी प्रकार चक्रवर्ती भरत षट्खण्ड राज्य का पालन-पोषण करते हुए भी स्वयं को उसका स्वामी नहीं मानते थे, वे मात्र राज्य के "रक्षक" बनकर प्रजा का पुत्रवत् पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे। इतनी निस्पृहता थी, भरत चक्रवर्ती के मन में।

कहते हैं, एक बार भगवान ऋषभदेव ने प्रवचन में कहा--इस अवसर्पिणी काल में माता मरुदेवी प्रथम सिध्द हुई, मैं प्रथम तीर्थंकर हूँ, और भरत भी चरम-शरीरी है। इसी भव में मोक्ष जायेगा, वह अल्पकर्मी है।

भगवान के इस कथन पर एक व्यक्ति को शंका हुई, कि इतने बड़े विशाल साम्राज्य का स्वामी तो अल्पकर्मा है, और मैं अत्यन्त गरीबी में गुजारा करने वाला महाकर्मा? भगवान भी कैसे पक्षपाती है?

चक्रवर्ती भरत को उस व्यक्ति की शंका का पता चला, उन्होंने उसे बुलाया और कहा--यह तेल से लबालब भरा एक कटोरा हथेली पर रखकर समूची अयोध्या नगरी की परिक्रमा करके आओ, ध्यान रखना यदि एक बूँद भी तेल गिर गया तो इसका दण्ड--मृत्युदण्ड होगा।

वह गरीब व्यक्ति तेल का भरा कटोरा लेकर चला। उसके पीछे पहरेदार चल रहे थे, नगर मे कही नृत्य--गायन, कहीं हास्य-विनोद हो रहे थे, कहीं बाजारों में दुकानें सजी थीं, परन्तु उस चहल-पहल व रंगारंग में उसकी दृष्टि सिर्फ तेल के कटोरे पर ही टिकी रही, वह उसी तेल के कटोरे पर एकाग्र मन हुआ नगर में घूमता हुआ आया।

भरत चक्रवर्ती ने पूछा--भ्रात! तुमने शहर में क्या देखा?

राजन्! मै क्या देख पाता? मुझे तो सिर्फ यह तेल का कटोरा ही दीख रहा था, बाकी कुछ भी मैंने नहीं देखा, क्योंकि इससे दृष्टि हटते ही तो तेल की बूंद गिरने का भय और तब मृत्यु मेरे सामने खडी थी। इसलिए मैं उसी पर एकाग्र बना चलता रहा।

चक्रवर्ती भरत ने कहा--बन्धु! मैं भी इस राज्य में इसी भांति जी रहा हूँ, सिर्फ अपनी आत्मा पर दृष्टि केन्द्रित करके जीवन-यात्रा पर चल रहा हूँ, यदि इस आत्मा से दृष्टि हट गई तो इधर-उधर संसार के राग रंग में उलझ गया तो जन्म-मृत्यु का यह चक्र सिर पर घूमता नजर आयेगा। इसलिए मैं इतने बड़े

विशाल साम्राज्य में अपने को लिप्त नहीं करता। इसलिए भगवान ने मुझे अल्प-कर्मा बताया है। और अब, तुम अपने हृदय को टटोलो !

चक्रवर्ती भरत की अनासक्ति एवं अल्पकर्मा होने की बात उसकी समझ में आ गई।

एक बार भरत चक्रवर्ती स्नान आदि करके अपने मण्डन-गृह में आये। शरीर पर आभूषण आदि धारण कर एक आदमकद शीशे में अपना सुसज्जित रूप देखकर प्रसन्न हो रहे थे। तभी दाहिने हाथ की अंगूठी की तरफ ध्यान गया। अंगूठी कहीं भूमि पर गिर पड़ी थी, खाली-खाली अंगुली शोभाहीन सी दीखने लगी। चक्रवर्ती भरत सोचने लगे–अरे ! इस सुन्दर सुसज्जित शरीर पर यह अगुली कैसे शोभाहीन सी दीख रही है ? एक अगूठी न होने से अगुली की शोभा फीकी क्यों पड़ गई ? क्या इस शरीर की सुन्दरता शोभा, सब बाहरी आभूषणो से ही है? शरीर की अपनी कोई शोभा नही? सब कुछ कृत्रिम, पराया ओढा हुआ सौन्दर्य है। भरत महाराज की विचारधारा अन्तर्मुखी हो गई। एक-एक आभूषण उतारकर दर्पण में अपना रूप देखने लगे। दर्पण झूठ नहीं बोलता, जैसा रूप था, वही दर्पण में दीखा, सम्राट भरत ने सोचा-ओह ! मेरा यह सौन्दर्य तो बाह्य वस्तुओं से है, बाहरी आभूषण हटते ही शरीर शोभाहीन दीखने लगा। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती का ध्यान अन्तर्मुखी हो गया। शरीर की असारता, अनित्यता का चिन्तन करते-करते ही उन्हे बोधि प्राप्त हुई। भाव-चारित्र की परिणति हो गई और शीशमहल में ही केवली बन गये। फिर मुनि वेश धारण कर दीर्घकाल तक विचरण करके सुखे-सुखे मोक्ष प्राप्त किया।

आवश्यक मलयगिरि वृत्ति आदि प्राचीन ग्रन्थो में वर्णित भरत चक्रवर्ती की यह कथा सूचित करती है कि भरत अत्यन्त अल्पकर्मी, अनासक्त वृत्ति के थे। उन्हें मोक्ष प्राप्त करने के लिए न तो कठोर या दीर्घकालीन तप करना पड़ा, न ही कठिन उपसर्ग या वेदना सहनी पड़ी। सुखपूर्वक दीर्घ संयम यात्रा करते हुए मोक्षगामी हुए।

यह पहली अन्तक्रिया का उदाहरण है-**अल्प वेदना अल्प तपश्चरण किन्तु दीर्घ-कालीन संयम पर्याय**!

द्वितीय अन्तक्रिया–

पहली अन्तक्रिया से ठीक विपरीत दूसरी अन्तक्रिया है। जिसमें "**महाकम्म पच्चायाते भवति**–अर्थात् वह बहुत कर्मों के साथ मनुष्य जन्म धारण करता है, किन्तु अल्पसमय की संयम-साधना में ही घोर तप और घोर वेदना सहन करके सभी कर्मों का क्षय कर देता है। इसमें कर्मों की सघनता/प्रबलता तो होती है,

किन्तु उस पर कठोर तपश्चरण, उग्र परीषह सहन एवं निर्मल ध्यान की ऐसी तीव्र चोट भी पड़ती है कि बहुत अल्प समय में ही कर्मों के सघन बंधन क्षीण हो जाते हैं। उदाहरण के रूप मे बताया है–"**जहा से गयसुकुमाले अणगारे**"

जिस प्रकार उन गजसुकुमाल अणगार ने एक अहोरात्रि (अष्टप्रहर) की संयम-साधना में ही पुराने बधे हुए प्रचुर कर्मों को भोगकर क्षय किया और मोक्ष प्राप्त हुए।

घोरकर्मा गजसुकुमाल

गजसुकुमाल का वर्णन अन्तगड सूत्र में आता है। वसुदेव राजा की रानी देवकी वासुदेव श्रीकृष्ण की माता थी। कृष्ण आदि पुत्रों का जन्म कंस की कारागार मे होने से देवकी ने एक भी शिशु को अपनी गोद में नहीं खिलाया। सब सुख प्राप्त होते हुए भी देवकी पुत्र को गोद में खिलाने की ममता-वत्सलता के कारण सदा उदास रहती थी। माता की इच्छा पूर्ण करने के लिए मातृभक्त वासुदेव श्रीकृष्ण ने हरिणगमैषी देव की सहायता से अपना एक छोटा भाई मांगा। देवकी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। शिशु अत्यन्त कोमल होने के कारण उसका नाम रखा–गजसुकुमाल। बड़े ही प्यार-दुलार मे उसका लालन-पालन हुआ।

द्वारिका में एक धनाढ्य ब्राह्मण परिवार रहता था, जिसका मुखिया था–सोमिल। उसकी पत्नी सोमश्री थी, तथा एक अत्यन्त रूपवती सुकुमार कन्या थी–सोमा।

एक बार भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। वासुदेव श्रीकृष्ण प्रभु के दर्शन करने गये। मार्ग में अनेक कन्याओ के झुंड में सोमा को खेलते हुए देखा, वासुदेव को यह कन्या अपने प्रिय लघुबन्धु गजसुकुमाल के लिए बहुत ही उपयुक्त जोड़ी लगी। कन्या के पिता सोमिल विप्र को बुलाकर वासुदेव ने अपने छोटे भाई के लिए उसकी मंगनी कर ली। सोमिल तो धन्य-धन्य हो उठा। "सोमा" वासुदेव के कन्याओं के अन्तःपुर में पहुँच गई। वहां राजकन्याओं के साथ उसका लालन-पालन होने लगा।

वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान अरिष्टनेमि की धर्मसभा में पहुँचे, साथ में गजसुकुमाल भी थे। भगवान का धर्म प्रवचन सुनते ही गजसुकुमाल प्रतिबुद्ध हो गए। माता-पिता से बहुत आग्रह करके दीक्षा लेने की स्वीकृति मांगी। देवकी ने कहा–"पुत्र! तेरे बिना तो मैं एक दिन भी जी नहीं सकूंगी। वासुदेव श्रीकृष्ण ने भी उसे अत्यन्त लाड़-प्यार से समझाया, प्रव्रज्या की बात छोड़ दे, मैं तुझे द्वारिका का राजा बनाऊंगा, संसार के सब सुख तुझे प्राप्त होगे।" परन्तु विरक्त हृदय गजसुकुमाल ने किसी की बात नहीं सुनी, अपने निश्चय पर दृढ़ रहे, और कोमल

कच्ची वय में ही भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेने को आतुर हो गये। उनके अत्याग्रह पर माता-पिता तथा वासुदेव श्रीकृष्ण को झुकना पड़ा। गजसुकुमाल का दीक्षा-समारोह (अभिनिष्क्रमण-महोत्सव) मनाया गया।

गजसुकुमाल, भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो गये। जिस दिन दीक्षित हुए उसी दिन तीसरे प्रहर में भगवान से बारहवीं भिक्षु प्रतिमा आराधना की आज्ञा लेकर महाकाल श्मशान में पहुँचे और प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में लीन खड़े हो गये।

संध्या के समय सोमिल समिधा आदि यज्ञ सामग्री लेकर श्मशान के पास होकर लौट रहा था। उसने गजसुकुमाल मुनि को मुण्डित सिर कायोत्सर्ग में लीन खड़ा देखा तो उसे क्रोध आ गया–इसे यदि श्रमण ही बनना था तो मेरी निर्दोष पुत्री सोमा का जीवन क्यों बरबाद किया ?

क्रोध में बेभान होकर उसने समीप के तालाब से गीली मिट्टी लेकर मुनि के सिर पर पाल बाँधी, एक चिता से अंगारे लेकर मुनि के सिर पर रख दिये और चला आया।

अंगारों के दाह से मुनि का नवमुण्डित सिर आग पर रखी हांडी के समान तपने लगा, उनका रक्त उबलने लगा। अत्यधिक वेदना और पीडा थी। लेकिन इस असह्य वेदना में भी मुनि गजसुकुमाल अपने समत्व में स्थिर रहे। अपकारी के प्रति भी दुर्भाव न किया, उसे भी क्षमा कर दिया।

क्षमावतार मुनि गजसुकुमाल आत्मध्यान में लीन रहे। उनके कर्मों के सभी बन्धन टूट गये। वे मुक्त हो गये।

इस प्रकार गजसुकुमाल ने मात्र आठ प्रहर की संयम पर्याय मे ही भवान्त कर दिया, अन्तक्रिया मे सफल हुए।

–यह दूसरी अन्तक्रिया का उदाहरण है।

तृतीय अंतक्रिया–

तीसरी प्रकार की अन्तक्रिया में **महाकम्मपच्चायाते यावि भवति** .... **दीहेणं परियाएणं सिज्झति**। अर्थात् वह अत्यधिक सघन कर्मों के साथ जन्म लेता है, और दीर्घ समय की संयम-साधना में घोर वेदना भोगता है तथा सभी कर्मों का नाश कर देता है।

इसमें कर्मों की सघनता भी होती है, और दीक्षा पर्याय भी लम्बी होती है। दीर्घकाल तक वेदना का अनुभव तथा कष्ट, परीषह आदि समभाव से सहते हुए वह कर्मों के प्रबल बंधन को क्षीण कर पाता है। इसका उदाहरण है–**जहा-से सणंकुमारे राया चाउरन्त चक्कवट्टी**–यथा चक्रवर्ती सनत्कुमार ने दीर्घकाल तक

संयम पर्याय का पालन किया, विविध प्रकार के कष्ट भोगे और सभी कर्मों का अन्तकर मुक्त हुए।

दीर्घकर्मा सनत्कुमार चक्रवर्ती

चक्रवर्ती सनत्कुमार का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र के १८वें अध्ययन तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में प्राप्त होता है। आप इस अवसर्पिणी काल के चतुर्थ चक्रवर्ती सम्राट हैं।

हस्तिनापुर नगर मे महाराज अश्वसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सहदेवी था। महारानी ने एक रात चौदह महास्वप्न देखे और गर्भकाल पूरा होने पर एक सर्वांग सुन्दर, अतिशय शरीर-सौन्दर्य संपन्न शिशु को जन्म दिया। उसका नाम सनत् कुमार रखा गया। काल-क्रमानुसार सनत्कुमार युवा होते-होते सभी पुरुषोचित कलाओं में निष्णात हो गया।

पिता के स्वर्गवास के उपरान्त सनत्कुमार हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन हुए। पुण्य बल और भुजबल के प्रताप से सभी राजाओ को विजित कर चक्रवर्ती की उपाधि धारण की।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का शरीर-सौन्दर्य अनुपम था, रूप-सपदा असाधारण थी। एक बार प्रथम स्वर्ग के देवाधिपति सौधर्म इन्द्र ने उनके शरीर-सौष्ठव की प्रशसा करते हुए अपनी देव-सभा मे कहा–

"भरत क्षेत्र के चक्रवर्ती सनत्कुमार की रूप-सपदा अत्युत्तम है। उसका वर्णन जिह्वा से नही किया जा सकता। ऑखो से देखकर ही अनुभव किया जा सकता है।"

एक मानव की यह प्रशसा दो देवों को अतिशयोक्ति लगी। वे मानव-लोक मे आये और ब्राह्मणो का रूप धारण कर चक्रवर्ती के महल में आये। उस समय चक्रवर्ती व्यायामशाला में व्यायाम कर रहे थे। ब्राह्मण वेशधारी देवों ने उन्हें देखकर कहा–

"राजन्! आपके रूप-सौन्दर्य की जैसी चर्चा सुनी थी, उससे भी अधिक सुन्दर है आपकी शारीरिक शोभा।"

चक्रवर्ती भी अपनी सुन्दरता की अनुपमता को जानते थे, उन्हें अपनी रूप-शोभा का अभिमान भी था। गर्व में भरकर बोले–

"भूदेवो! अभी तो मेरा तन धूलि धूसरित है। स्नान आदि तथा वस्त्राभूषणों से सज्जित होकर जब राजसभा में सिंहासन पर बैठूँ तब मेरे रूप को देखना। उस समय मेरा रूप पूरी तरह शोभित होगा।"

ब्राह्मण स्वीकृतिसूचक सिर हिलाकर चले आये।

चक्रवर्ती स्नान आदि से निवृत्त हुए, बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किये और राजमुकुट से सुशोभित होकर सिंहासन पर आ विराजे। दोनों ब्राह्मण भी आ गये। चक्रवर्ती ने गर्वस्फीत स्वर में कहा–

ब्राह्मणो ! अब तुम मेरे रूप को देखो और बताओ मेरा शरीर-सौन्दर्य तुम्हे कैसा लगता है ?

दोनों ब्राह्मणों ने निःश्वास फैंककर कहा–

"राजन् ! क्या कहें ? कुछ कहा नहीं जाता। अपराध क्षमा करें। अब आपके शरीर-सौन्दर्य में वह बात नहीं रही। आपका शरीर सोलह रोगो का घर बन गया है। विश्वास न हो तो थूककर देख ले। आपके थूक मे कीड़े कुलबुलाते हुए दृष्टिगोचर होंगे।"

चक्रवर्ती ने ऐसा ही किया। ब्राह्मणो का कथन सत्य था। उसका अपनी रूप शोभा का घमंड चूर-चूर हो गया। शरीर को क्षण-विनश्वर जानकर वैराग्य धारण कर लिया, प्रव्रजित हो गये।

शरीर में रोगों ने प्रवेश तो कर ही लिया था रूखा-सूखा भोजन और कठोर तपश्चरण से रोग फूट पडे। असह्य वेदना होने लगी। लेकिन मुनि सनत्कुमार समभाव से उस वेदना को सहते हुए, शरीर मे निरपेक्ष रहकर तप-साधना मे आत्म विशुद्धि मे लीन रहे।

देवराज ने अपनी देवसभा से पुन मुनि की तितिक्षा की प्रशसा करते हुए कहा–

"मुनि सनत्कुमार की तितिक्षा धन्य है। यद्यपि तप साधना मे उन्हे अनेक लब्धियॉ प्राप्त हो चुकी हैं। यदि वे चाहे तो अपने शरीर को निरोग कर सकते हैं। किन्तु शरीर से निरपेक्ष रहकर, असह्य वेदना भोगते हुए भी वे तप-साधना मे तल्लीन हैं।"

वही दोनों देव पुनः परीक्षा के लिए आये। वैद्यों का रूप रखकर मुनिश्री के पास पहुँचे, औषधोपचार का बहुत आग्रह किया तब मुनि ने कहा–

"वैद्यो ! शरीर-रोगो की मुझे कोई चिन्ता नहीं। मैं तो कर्मरोग को मिटाने में लगा हुआ हूँ। शरीर के रोगों को तो मैं जब चाहूँ तभी मिटा सकता हूँ।"

यह कहकर मुनि सनत्कुमार ने अपनी एक अगुली पर थूका। अंगुली निरोग होकर कुन्दन-सी चमकने लगी।

दोनों देव आश्चर्यचकित हो गये। अपने मूल रूप में प्रगट होकर मुनि की वन्दना की और उनकी तितिक्षा तथा समाधिपूर्वक वेदना सहन करने की प्रशंसा करते हुए चले गये।

इस प्रकार मुनि सनत्कुमार सात सौ वर्षों तक तपस्या करते रहे तथा सभी कर्मों का क्षय किया।

सनत्कुमार ने दीर्घ समय तक घोर वेदना सहन करने के उपरान्त कर्मों का नाश किया–यह तीसरी अन्तक्रिया का उदाहरण है।

चतुर्थ अन्तक्रिया–

चौथे प्रकार की अन्तक्रिया वह होती है, जिसमें **अप्पकम्म पच्चायाते यावि भवति** ······ **निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झति**– अर्थात् वह (मानव) अत्यन्त अल्प कर्मों के साथ जन्म लेता है और अत्यल्प संयम पर्याय (मन-वचन-काय-योगों के निरोध) मे ही सिद्ध हो जाता है।

इस चौथी अन्तक्रिया में न किसी प्रकार की वेदना ही भोगनी पड़ती है और न दीर्घकाल तक सयम पर्याय का ही पालन करना पड़ता है, यहाँ तक कि केवल पर्याय भी अधिक समय तक नही रहती, कैवल्य प्राप्ति के उपरान्त शीघ्र ही आयु समाप्त होने से जीव मुक्त हो जाता है। इसका उदाहरण है–**जहा–सा मरुदेवा भगवति**–यथा मरुदेवी भगवती।

मरुदेवी ने किंचित् भी कष्ट नही भोगा, यहाँ तक कि व्यवहार दृष्टि से प्रव्रज्या भी धारण नहीं की, केवल भाव-दीक्षित रहीं और मुक्त हो गईं।

मरुदेवी माता

वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में जब यौगलिक सभ्यता का अन्तिम चरण चल रहा था, उस समय विनीता नगरी के प्रागण में एक युगल उत्पन्न हुआ जिसमें पुरुष का नाम नाभिराय था और स्त्री का नाम था मरुदेवी।

उस समय यौगलिक परम्परा समाप्तप्राय थी और कुलकर परम्परा चल रही थी। नाभिराय चौदहवे कुलकर थे।

मरुदेवी ने एक युगल को जन्म दिया। इनके नाम थे–(१) ऋषभदेव और (२) सुमंगला।

ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा, प्रथम केवली और प्रथम तीर्थंकर तथा जैनधर्म के प्रथम आदिकर्ता हुए हैं। मरुदेवी की ख्याति के प्रमुख आधार ऋषभदेव ही हैं। इसी कारण मरुदेवी प्रथम तीर्थंकर की जननी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि आदि का शिक्षण दिया, समाज-व्यवस्था, राज-व्यवस्था आदि का प्रवर्तन किया और फिर श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

पुत्र ऋषभदेव की चिन्ता में मरुदेवी व्याकुल रहने लगी। बार-बार भरत (चक्रवर्ती) से ऋषभदेव के समाचार मँगाने का आग्रह करती।

जब यह समाचार ज्ञात हुआ कि ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वे विनीता नगरी के बाह्य भाग में विराजमान हैं तो मरुदेवी के हर्ष का ठिकाना न रहा। उनसे मिलने के लिए हाथी पर सवार होकर चल पड़ी।

भगवान ऋषभदेव उस समय देव निर्मित समवसरण मे विराजमान थे। उनकी ऋद्धि देखकर मरुदेवी अभिभूत हो गई। उसके मन में विचार उठे–मैं व्यर्थ ही चिन्ता करती थी। मेरा पुत्र तो बहुत बड़ी ऋद्धि का स्वामी बन गया है।

समवसरण की शोभा और प्रभु के तीर्थंकरोचित ऐश्वर्य का चिन्तन करते-करते मरुदेवी भावों की गहराई में उतर गई। उसे अपना मोह निरर्थक लगने लगा, सांसारिक सम्बन्धों की निःसारता का भी भान हुआ। धर्मध्यान का चिन्तन चलते-चलते शुक्लध्यान की क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुई। घनघाती कर्मों की शृखलाए टूट गईं और शेष कर्म भी निर्जीण हो गये। कैवल्य प्राप्ति के कुछ क्षण बाद ही आयुष्य पूर्ण करके सिद्ध हो गईं।

भगवान ने कहा–मरुदेवी सिद्ध हो गईं। इस अवसर्पिणी काल की ये प्रथम सिद्ध हैं।

इस प्रकार मरुदेवी ने तनिक भी वेदना का वेदन नहीं किया, व्यावहारिक दृष्टि से संयम-साधना भी नहीं की और मुक्त हो गईं। वे अत्यल्प कर्मा थीं। यह चौथी अन्तक्रिया का उदाहरण है।

–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, उसहचरियं

–त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र

● ●

अध्याय ३

तीन महान युग प्रवर्तक

१. भगवान अरिष्टनेमि

२. वासुदेव श्रीकृष्ण

३. भगवान महावीर

युग प्रवर्तक का अभिप्राय

युग प्रवर्तक (man of the age) वह विशिष्ट मेधावी और प्रभावशाली तथा महाक्षमता संपन्न व्यक्ति होता है जो युग की धारा को मोड़ने का, पुरानी प्रचलित परम्पराओ (traditions) अन्धविश्वासों-मूढ़ताओं (superstitions) में उचित संशोधन करके इस युग तथा आने वाले युगों के मानवों में नई प्रेरणा और जागृति का सचार करने की सामर्थ्य रखता है।

दूसरे शब्दों में युग-प्रवर्तक वह होता है जो अपने आचार-विचार, व्यवहार आदि क्रिया-कलापों द्वारा जनमानस को इस प्रकार प्रभावित करता है कि युगों-सैंकड़ों-हजारों वर्ष बीत जाने पर भी उसका असर जन--जन पर, उनके जीवन पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता रहता है।

प्रत्येक सभ्य समाज की युगधारा (age current) द्विमुखी होती है-(१) आध्यात्मिक (spiritual) और (२) व्यावहारिक (practical) । अध्यात्ममुखी युगधारा, आत्मोन्नति-आत्म-विशुद्धि और आत्ममुक्ति से सम्बन्धित होती है और व्यवहारमुखी युगधारा सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक-मानव के व्यवहार-जगत को सफलतापूर्वक संचालन के लिए दिग्दर्शक-यंत्र के समान होती है।

युगधारा के ये दो भेद भी स्थूल दृष्टि से किये जाते हैं। भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सन्दर्भ में तो व्यावहारिक जगत के युग प्रवर्तक भी जीवन का अन्तिम लक्ष्य आत्म-मुक्ति ही निर्धारित करते हैं तथा व्यावहारिक जीवन में सफलता के उपरान्त मानव का चरम उत्कर्ष मुक्ति प्राप्ति ही स्वीकार करते हैं और जन-जन के मन-मस्तिष्क को उसी लक्ष्य की ओर मोड़ते हैं।

अन्तकृद्दशा में उट्टंकित महान युग प्रवर्तक

द्वादशांगी का आठवां अंग सूत्र अन्तकृद्दशा कई दृष्टियों सर्वांगपूर्ण आगम है। यह आध्यात्मिकता प्रधान तो है ही, इसकी विषय-वस्तु ही अन्तकृत् केवलियों के जीवन के वर्णन से ओत-प्रोत है। इसमे आध्यात्मिक महापुरुषों, युग प्रवर्तको, तीर्थंकरों के वर्णन के साथ-साथ भौतिक धरातल के युग-प्रवर्तक का भी यथेष्ट उट्टंकन है।

अन्तकृद्दशा सूत्र में तीन महान युग प्रवर्तकों का वर्णन है। इनमें दो आध्यात्मिक हैं–(१) तीर्थंकर अरिष्टनेमि और (२) तीर्थंकर महावीर तथा एक लौकिक दृष्टि से युग प्रवर्तक हें--वासुदेव श्रीकृष्ण। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे आध्यात्मिक और लौकिक–दोनों ही धरातल पाठक को प्राप्त होते हैं।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण

ये दोनो ही महान युग प्रवर्तक और समकालीन थे। दोनों ही पारिवारिक दृष्टि से भी जुड़े हुए थे। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई (cousin) थे। इन दोनों का ही भारत की वैदिक और श्रमण परम्परा मे यशोगान हुआ है, पूज्यभाव से स्मरण किया गया है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि वैदिक परम्परा मे श्रीकृष्ण का विस्तार रूप से वर्णन है, जबकि तीर्थंकर अरिष्टनेमि का अपेक्षाकृत बहुत कम है, फिर भी जहॉ-जहाँ उल्लेख हुआ वहॉ उनके प्रति पूज्य भाव ही प्रदर्शित हुआ है।

तीर्थंकर और वासुदेव

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे विशेष जानने से पहले 'तीर्थंकर' और 'वासुदेव' इन दो शब्दो का रहस्यार्थ जानना आवश्यक है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में 'तीर्थंकर' शब्द का अभाव है, यह शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि मे अरिष्टनेमि को तार्क्ष्य अरिष्ट-नेमि अवश्य कहा गया है। यह 'तार्क्ष्य' शब्द शाब्दिक दृष्टि से 'तीर्थंकर' शब्द के समीप है, क्योकि शुक्ल यजुर्वेद के अध्याय ९ मंत्र २५ में अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) को अध्यात्मयज्ञ को प्रगट करने वाले, ससार के भव्य जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से आत्मा बलवान होती है–ऐसा बताकर इन सर्वज्ञ नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के लिए आहुति समर्पित की गई है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के पूर्व (विशेषण रूप में) वैदिक परम्परा के अन्य ग्रन्थों में जहॉ-जहॉ भी 'तार्क्ष्य' शब्द प्रयोग हुआ वहां-वहा इस शब्द से 'पूज्य' अर्थ ही ध्वनित होता है।

फिर भी इतना तो सत्य है कि वैदिक ग्रन्थों में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग नहीं आता है।

'वासुदेव' शब्द का प्रयोग महाभारत तथा अन्य पुराण साहित्य तथा उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वह श्रीकृष्ण के लिए ही है यानी वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण वासुदेव–इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के अनुसार एक ही वासुदेव श्रीकृष्ण हुए हैं।

यद्यपि डा. भाण्डारकर ने भक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक और सात्वत अथवा भागवत धर्म के उपदेशक रूप में दो वासुदेवों की पृथक्-पृथक् परिकल्पना की; किन्तु लोकमान्य तिलक, हेमचन्द्र राय चौधरी, कीथ आदि विद्वानो ने इस मत को अस्वीकार करके निश्चित किया कि एक ही वासुदेव हुए हैं, जो श्रीकृष्ण के रूप में विख्यात हैं।

लेकिन जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर और वासुदेव एक पदवी है जो पूर्वजन्म मे तप द्वारा उपार्जित की जाती है। जिसे कोई भी जीव उपलब्ध कर सकता है। अन्तर इतना है कि वासुदेव कृत निदान (संसार और सासारिक सुखों की इच्छा पूर्वक संकल्प करने वाले) होते हैं; जबकि तीर्थंकर कोई निदान नहीं करते।

जैन परम्परा के अनुसार इस अवसर्पिणी काल मे ९ वासुदेव (वासुदेव पदवी धारी--दक्षिण भरतार्द्ध के स्वामी--अर्द्ध चक्रवर्ती) हुए हैं, जिसमें श्रीकृष्ण अन्तिम अथवा नौवें वासुदेव हैं।

वासुदेव की यह विशेषता है कि कृतनिदान होने के कारण वे संयम-साधना नही कर सकते। जैन और वैदिक–दोनो ही परम्पराएँ इस विषय मे एकमत जान पड़ती है। दोनों ही परम्पराओं में श्रीकृष्ण संयम-साधना नही करते। हॉ, कारण अलग-अलग है। जैन परम्परा उन्हें कृतनिदान मानती है और वैदिक परम्परा विष्णु का सोलह कला पूर्ण अवतार अथवा पूर्ण ब्रह्म; ऐसी दशा में इन्हें सयम साधना की आवश्यकता ही क्या है?

जैन परम्परा के तीर्थकर, अवतार नही हैं। जैन परम्परा भी अवतारवादी नहीं है, इसके अनुसार भगवान अवतार नहीं लेते; अपितु उत्तारवादी हैं। जीव क्रमशः आत्म-विशुद्धि करता हुआ तप साधना तथा जीवमात्र की कल्याण भावना रखता हुआ तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है तथा तीर्थकर पदवी प्राप्त करता है।

इतना अवश्य है कि तीर्थंकर अतिशयों, प्रातिहार्यों से युक्त और सुशोभित होते हैं।

यही तीर्थंकरों की सामान्य सर्वज्ञों से विशेषता होती है।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण की समकालीनता

कुछ बुद्धिजीवी इस तथ्य में सन्देह प्रगट करते हैं और कहते हैं कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण समकालीन नहीं थे। इनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। दोनों की समकालीनता के साक्ष्य वैदिक और जैन दोनों ही परम्पराओं में उपलब्ध होते हैं।

अष्टादश पुराणकार महर्षि वेदव्यास ने स्वरचित हरिवंश पुराण में अरिष्टनेमि को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई (cousin) बताया है। आधुनिक काल के विद्वान प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राय चौधरी ने अपने ग्रन्थ वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास में भी यही मत स्थिर किया है।

विचारणीय तथ्य है कि क्या परस्पर चचेरे भाई समकालीन नहीं होते? इसका सर्वमान्य उत्तर एक ही है कि वे निश्चित रूप से समकालीन ही होते हैं। इसमें शंका करना व्यर्थ है।

जैन परम्परा में तीर्थंकर अरिष्टनेमि समुद्रविजय के पुत्र हैं और श्रीकृष्ण वसुदेव जी के, जो समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई हैं। वैदिक परम्परा में श्रीकृष्ण के पिता का नाम तो वसुदेव ही है; किन्तु अरिष्टनेमि के पिता का नाम चित्रक दिया गया है। संभव है, समुद्रविजय का अपरनाम चित्रक हो। लेकिन इस नाम से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि दोनों ही परम्पराएँ अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण–दोनों को परस्पर चचेरा भाई (cousin) स्वीकार करती हैं और इस तथ्य से यह स्वयं ही सिद्ध हो जाता है कि दोनों ही समकालीन थे।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता

कुछ समय पूर्व तक भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता संदिग्ध थी। भारतीय और पाश्चात्य विद्वान उन्हें मात्र पौराणिक पुरुष मानते थे, ऐतिहासिक पुरुष नहीं। इसी प्रकार की धारणा श्रीकृष्ण और द्वारका नगरी के विषय में भी थी।

लेकिन ज्यों-ज्यों नये-नये ऐतिहासिक और पुरातात्विक अन्वेषण आगे बढ़े, सन्देह का आवरणरूपी अन्धकार छँटता गया, सत्य का सूर्य चमकने लगा और भगवान अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष थे, यह तथ्य स्वीकार किया जाने लगा।

भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता के प्राचीन प्रमाण तो अनेक हैं ही; साथ ही आधुनिक इतिहासकारों और मनीषियों ने भी उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की है।

वेदों, महाभारत, पुराणों आदि वैदिक संप्रदाय के ग्रन्थों में अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है, उन्हें आहुति भी समर्पित की गई है।

जैन ग्रन्थों में तो अरिष्टनेमि तीर्थंकर का विशेष वर्णन है। ऋषिभाषित के ४५ अध्ययनों में वर्णित २० प्रत्येकबुद्ध भगवान अरिष्टनेमि के शासनकाल में ही हुए हैं।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशा के प्रथम पाँच वर्गों में वर्णित ५१ अन्तकृत् केवली भी भगवान अरिष्टनेमि के ही शासनकाल में हुए हैं। इस सूत्र में श्रीकृष्ण, उनका राज्य वैभव और द्वारका नगरी की विशालता तथा शोभा सम्पन्नता का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

आधुनिक विद्वानों में भारत के पूर्व राष्ट्रपति और प्रसिद्ध दार्शनिक स्व. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने स्वीकार किया है कि यजुर्वेद में आदिनाथ, अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख उपलब्ध होता है।

कर्नल टॉड ने अनल्स ऑफ दी भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पत्रिका (जिल्द २३ पृष्ठ १२८) में अरिष्टनेमि के प्रति अपना अभिमत इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है–'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध मेधावी पुरुष हुए हैं–उनमें से एक आदिनाथ हैं, दूसरे नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) हैं।' ये नेमिनाथ ही स्केण्डीनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' देवता तथा चीनवासियों के प्रथम 'फो' देवता थे।

प्रसिद्ध कोषकार नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्ववेत्ता डाक्टर फ्यूहर, प्रोफेसर बारनेट, मिस्टर करवा, डाक्टर हरिदत्त, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकर आदि मनीषी विद्वानों का स्पष्ट अभिमत है कि भगवान अरिष्टनेमि एक महान प्रभावशाली युगप्रवर्तक मेधावी पुरुष थे। वे ऐतिहासिक पुरुष थे, इसमें सन्देह को कोई अवकाश नहीं है।

अब तो समुद्र में निमग्न द्वारका के अवशेषों का पता भी पुरातत्ववेत्ताओं ने लगा लिया है। अतः भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गई है।

भगवान अरिष्टनेमि की चरित्रगत विशेषताएँ

भगवान अरिष्टनेमि आध्यात्मिक पुरुष थे, तीर्थंकर थे। स्वयं अपनी तथा अन्यों की आत्मविशुद्धि, बन्धन-मुक्ति ही इनका लक्ष्य था, मोक्षमार्ग का प्रवर्तन ही उनका ध्येय था। जिन क्रियाओं, वृत्ति-प्रवृत्ति से कर्म-बन्धन सघन होते हैं, उनसे विरति ही इन्हें इष्ट थी। वे स्वयं संसार और सांसारिक भोगों से उपरत थे। उनकी

एकमात्र यही इच्छा थी कि सभी मानव अहिंसक बनें, मदिरा आदि व्यसनों से दूर रहें।

श्रीकृष्ण और इनकी रानियों के अत्यधिक आग्रह को मान्य कर जब वे विवाह हेतु वर बनकर जूनागढ़ जाते हैं तो वहाँ बाड़े में बन्द पशुओं को देखकर करुणाद्रवित हो जाते हैं और वापिस लौटकर दीक्षा स्वीकार कर लेते हैं।

इनका यह कदम प्राणिहिंसा और मांसाहार का अहिंसक प्रतिकार था। इसका यथेच्छ प्रभाव भी हुआ। आज भी गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रदेश मांसभक्षण से दूर हैं।

उनका मानस अहिंसा, करुणा, दया और सर्वजीव-समभाव से ओतप्रोत है। लोक-कल्याण इनके हृदय में गहरा पैठा हुआ है। स्वयं कैवल्य प्राप्त होने पर भी सभी जग-जीवों के कल्याण के लिए प्रवचन देते हैं, मोक्षमार्ग का प्रणयन करते हैं। अनेक भव्य जीव उनकी देशना श्रवण करके सद्धर्म का पालन करके तथा आत्मविशुद्धि करके सिद्ध पद प्राप्त करते हैं।

उस युग में कौरव, जरासन्ध आदि ईर्ष्यालु और भोगाभिलाषी राजाओं का बाहुल्य था। यादव वंशी क्षत्रियों में भी अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थीं; मांसभक्षण आदि का प्रचलन था। यथाराजा तथाप्रजा के अनुसार सामान्य जनों का लक्ष्य भी भोगाभिमुखी था। अधिकांश व्यक्ति आध्यात्मिकता से विमुख थे।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने युग की इस संसाराभिमुखी वृत्ति-प्रवृत्ति में दिशा परिवर्तन करके उसे अध्यात्ममुखी बनाया। इसी कारण वे महान युग प्रवर्तक हैं।

अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण-दोनों ही महान युग प्रवर्तक हैं; किन्तु दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। अरिष्टनेमि का क्षेत्र आध्यात्मिक जगत है तो श्रीकृष्ण का क्षेत्र व्यावहारिक संसार।

इन दोनों ने एक ही वंश-हरिवंश (यादव कुल अथवा वंश) में जन्म लिया। दोनों ही परस्पर चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्रविजय थे और श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई थे।

जन्म-स्थान और परिस्थितियों में अन्तर रहा, अरिष्टनेमि का जन्म शौर्यपुर (सोरियपुर-वर्तमान आगरा नगर के निकट) में हुआ। इनके जन्म के समय स्थितियाँ अनुकूल थीं, कोई समस्या नहीं थी।

लेकिन श्रीकृष्ण का जन्म विपरीत परिस्थितियों में हुआ। उस समय उनके माता-पिता-देवकी और वसुदेव मथुरानरेश कंस के बन्दी (नजरकैद) थे। शिशु

कृष्ण के जीवन की रक्षा एक बहुत बड़ी समस्या थी। किसी प्रकार, अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए वसुदेव शिशु कृष्ण को नन्द गोप के घर पहुँचा आये। वहाँ इनका बाल्य जीवन बीता। गाय चराते, ग्वाल-बालों के साथ क्रीड़ा करते हुए वे किशोर हुए।

श्रीकृष्ण का जन्म तो मथुरा में हुआ; किन्तु इनका पालन-पोषण गोकुल में नन्द-पत्नी यशोदा द्वारा हुआ।

श्रीकृष्ण बचपन से ही पराक्रमी थे। उनका बल-विक्रम, पुरुषार्थ और पराक्रम बचपन में ही प्रगट हो गया। इन्हीं के मामा मथुरानरेश क्रूर कंस द्वारा उनके वध के लिए भेजे गये कई राक्षसीशक्ति सम्पन्न आतताइयों को उन्होंने धराशायी कर दिया। किशोर वय में ही क्रूर कंस को यमलोक पहुँचाकर जन-जन को उसके अत्याचारों से मुक्त किया।

इसके उपरान्त उनका संघर्षमय जीवन प्रारम्भ हुआ। उस समय के अनेक दुर्दान्त और आतंकवादी नरेशों से भारतभूमि को मुक्त किया।

वे अतिशय पुण्यशाली, प्रभावशाली और बलवान थे। स्वस्थ समाज नीति, राजनीति आदि की उन्होंने स्थापना की। द्वारका जैसी समृद्ध नगरी, जो अलकापुरी के समान सुन्दर थी, उसका निर्माण उन्हीं के पुण्य का फल था।

श्रीकृष्ण अत्यन्त विनयी और माता-पिता के भक्त थे। गुणों का आदर करना उनका सहज स्वभाव था। अवगुणों में गुण और अनेक बुराइयों में एक भलाई खोज ही लेते थे। सड़ी हुई कुतिया के शरीर से आती हुई दुर्गन्ध को नजरअन्दाज कर उनकी दृष्टि उसके मोती जैसे चमकते हुए दाँतों पर ही टिकी।

उनके लिए डेल कारनेगी के ये शब्द सटीक हैं–

Even the most wickeds are not so virtueless that we cannot find any good quality in them.

(ईविन दि मोस्ट विकेड्स आर नॉट सो वर्च्यूलैस दैट वी कैननॉट फाइन्ड एनी गुड क्वालिटी इन दैम)

बुरे से बुरे प्राणी भी इतने गुणहीन नहीं होते कि हम इनमें कोई अच्छा गुण न खोज सकें।

अवश्य खोज सकते हैं, बस आवश्यकता है–गुणग्राहक दृष्टि की और यह दृष्टि श्रीकृष्ण के पास थी।

श्रीकृष्ण वचनवीर ही नहीं थे, निर्धनों–असहायों आदि के प्रति केवल शाब्दिक–मौखिक सहानुभूति ही प्रदर्शित नहीं करते थे; अपितु कार्यरूप में परिणत

करके दिखाते थे, स्वयं आगे बढ़कर सहायता करते थे। त्रिखण्डाधीश होते हुए भी इन्होंने स्वयं अपने हाथ से जर्जर वृद्ध की ईंट उठाकर उसके घर में रखी। उनकी इस प्रक्रियात्मक सहायता के परिणामस्वरूप सारी ईंटें उस वृद्ध के मकान में पहुँच गईं।

गुणी व्यक्तियों के लिए उनका आदरभाव श्रद्धा-भक्ति से समन्वित था। इस विषय में आयु का विचार उनके लिये नगण्य था। यद्यपि तीर्थंकर अरिष्टनेमि आयु में इनसे छोटे थे; लेकिन जब उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर लिया तो उनके समक्ष वे श्रद्धा से झुक गये, भक्तिपूर्वक उनकी पर्युपासना करने लगे। तीर्थंकर अरिष्टनेमि के वचनों पर उनका दृढ़ विश्वास था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी–**नान्यथावादिनो जिनाः**–जिन भगवान–तीर्थंकर अन्यथावादी नहीं होते, उनके वचन सत्य और सत्यपूत होते हैं।

श्रीकृष्ण का एक अन्यतम गुण धर्मवीरता है। वैदिक परम्परा में तो इनका जन्म ही **धर्मसंस्थापनार्थाय**–धर्म की स्थापना के लिए माना गया है। लेकिन जैनधर्म में उन्हें धर्मसहायक स्वीकार किया गया है। कृतनिदान होने के कारण वे स्वयं तो संयम-चारित्र साधना नहीं कर पाते; किन्तु अन्य धार्मिक मानवों के लिए सहायक अवश्य बनते हैं।

उनकी उद्घोषणा से प्रेरित होकर अनेक व्यक्ति चारित्र पथ पर आरूढ़ होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र के प्रथम पाँच वर्गों में जिन ५१ अन्तकृत् केवलियों का वर्णन उपलब्ध होता है, उनमें इनके पुत्र भी हैं, भाई (गजसुकुमाल) भी हैं और उनकी रानियाँ तथा पटरानियाँ भी हैं।

इनके अतिरिक्त ढंढण मुनि, केतुमंजरी आदि ने भी दीक्षा ग्रहण करके मुक्ति पाई। थावच्चापुत्र की दीक्षा में तो श्रीकृष्ण का पूरा योगदान था।

इस प्रकार वासुदेव श्रीकृष्ण ने अपनी उद्घोषणाओं, प्रेरणाओं और सहयोग से धर्मशासन के प्रचार-प्रसार में सहायक बनकर तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करके महान पुण्य का लाभ प्राप्त किया।

श्यामवर्णी होने पर भी वे अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक थे, अतिशय बल-वीर्य और पराक्रम से युक्त थे। ऐसे अनुपम योद्धा थे जो कभी भी किसी भी युद्ध में पराजित नहीं हुए। इनकी मेधा अनुपमेय थी और नीति सदाशयी तथा धर्म से अनुस्यूत थी । उनकी हार्दिक इच्छा थी कि युद्ध न हो, सर्वत्र शांति रहे। इसीलिए उन्होंने दुर्योधन को समझाया–**शान्तिहेतु र्भवेत् तात**–हे भाई! शान्ति में ही भलाई

है। लेकिन दुर्योधन की हठवादिता ही युद्ध का कारण बन गई और महाभारत युद्ध में कुरुवंश का विनाश हो गया।

तीर्थंकर और वासुदेव की कार्यशैली

प्रस्तुत प्रसंग तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण तक ही सीमित है। अतः इन दोनों को ही केन्द्र बिन्दु में रखकर इनकी कार्यशैली को विवेचित करना ही अपेक्षित है।

सभी तीर्थंकरों की (दीक्षा ग्रहण करने और कैवल्य प्राप्ति के उपरान्त) कार्य शैली पूर्ण अहिंसक होती है। वे दमन का मार्ग कभी नहीं अपनाते। मन और इन्द्रियों के भी दमन की बात नहीं कहते अपितु वृत्ति-प्रवृत्तियों में परिवर्तन करके मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया सुझाते हैं। संयम-साधना और ब्रह्मचर्य-पालन द्वारा साधक को ऊर्ध्वरेता बनने का प्रोत्साहन देते हैं। वे वीतराग हैं, अनाग्रही हैं। कोई व्यक्ति संयम-साधना की भावना व्यक्त करता है तो इतना ही कहते हैं–**जहासुहं देवाणुप्पिया**–हे सरल हृदय और भद्र परिणामी! जिसमें तुम्हें सुख हो वैसा ही करो।

तीर्थंकर दुष्ट व्यक्ति की भी आत्मा में भव्यता और भद्रता देखते हैं।

वैसे सत्य यह भी है कि तीर्थंकर अत्यन्त शांत परिणामी होते हैं। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर और शांत पुद्गल परमाणुओं से निर्मित होता है। उस शरीर की शान्त तरंगें इतनी प्रबल और वेगवती होती हैं कि उनकी धर्मसभा (समवसरण) में प्रविष्ट होते ही दुष्ट व्यक्तियों की दुष्प्रवृत्तियाँ पलायन कर जाती हैं, वैरभाव शांत हो जाता है, मैत्री की भावनाएँ तरंगित होने लगती हैं, सर्वत्र शांति का साम्राज्य छा जाता है।

इसमें वे स्वयं कुछ नहीं करते, उनकी उपस्थिति मात्र से यह सब कुछ सहज ही घटित हो जाता है।

वे युग प्रवर्तक हैं, मूलरूप से इस अर्थ में कि उनकी उपस्थिति से व्यक्तियों की प्रवृत्तियों का परिमार्जन तथा शुद्धीकरण होता है, उसकी आत्मा पतन से उत्थान के मार्ग पर चल पड़ती है।

इसे चाहे तीर्थंकर की कार्य शैली कहें अथवा उनकी उपस्थिति का प्रभाव या अतिशय मानें।

लेकिन वासुदेव की कार्य शैली इससे भिन्न होती है। वे शक्ति के बल पर समाज में सुव्यवस्था का संचार करते हैं। अपने वचन का आग्रह भी होता है। साम नीति द्वारा व्यक्ति को समझाते हैं लेकिन जब वह नहीं मानता तो दण्डनीति का आश्रय लेकर उसे दण्ड भी देते हैं।

दुष्कृतों का विनाश करने के लिए वे दमन का, हिंसा का, युद्ध का आश्रय भी लेते हैं। उनका उद्देश्य होता है–प्रत्येक क्षेत्र में सुव्यवस्था और संगठन। इसके लिए जो भी आवश्यक साधन होते हैं, उनके प्रयोग में हिचकिचाते नहीं।

वासुदेव अपने समय के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं। उनके विरोधी और दुष्कृत करने वाले सदा उनसे भयभीत रहते हैं। कभी-कभी तो इनकी उपस्थिति मात्र से ऐसे व्यक्तियों के प्राण भी निकल जाते हैं। जैसे कि मुनि गज-सुकुमाल को प्राणान्तक उपसर्ग देने वाले सोमिल ब्राह्मण के प्राण श्रीकृष्ण को देखते ही निकल गये थे।

वासुदेव निग्रह और अनुग्रह (bans and boons) में भी कुशल होते हैं। सज्जनों का त्राण करना और पापियों का विनाश करना उनका सहज स्वभाव होता है। उनके वचन अमोघ होते हैं। अपनी आज्ञा का पालन ही चाहते हैं, उल्लंघन इन्हें बर्दाश्त नहीं होता।

विभिन्न घटना प्रसंगों में श्रीकृष्ण वासुदेव की ये विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। यही वासुदेव की कार्य शैली है।

तीर्थंकर और वासुदेव की ये भिन्नताएँ ही उनके कार्य क्षेत्र की स्पष्ट विभाजन रेखा खींचती हैं।

युग प्रवर्तक दोनों ही होते हैं–तीर्थंकर भी और वासुदेव भी। अपने विशिष्ट गुणों से ये दोनों ही लोक मानस को प्रभावित करते हैं और युगों तक हजारों लाखों वर्षों तक इनका प्रभाव बना रहता है; जन-जन के स्मृति कोष में ये सुरक्षित रहते हैं।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण ऐसे ही महान युग प्रवर्तक थे।

भगवान महावीर

अन्तकृद्दशांग सूत्र के छठवें से आठवें–तीन वर्गों में तीर्थंकर महावीर का उल्लेख प्राप्त होता है। ३९ साधक-साधिकाएँ इन्हीं के शासनकाल में अन्तकृत् केवली बनकर मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यह भी सत्य है कि वर्तमान अंग साहित्य भगवान महावीर की देशना है। अतः प्रस्तुत आठवाँ अंग भी तीर्थंकर महावीर की देशना है।

जन्मकालीन परिस्थितियाँ

जिस समय भगवान महावीर का जन्म हुआ इस समय भारत में अराजकता छाई हुई थी। नैतिक और धार्मिक दृष्टि से अन्धकार व्याप्त था। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक दशा पतनोन्मुखी थी।

भगवान अरिष्टनेमि के मुक्तिगमन के उपरान्त लम्बा काल व्यतीत हो चुका था। मध्य एशिया, एशिया माइनर, उत्तरी ध्रुव प्रदेश और अफ्रीका (उस समय तक यूरोप, अफ्रीका महाद्वीप एशिया से स्थल मार्ग से जुड़े हुए थे। स्वेज नहर बनने के बाद अफ्रीका महाद्वीप एशिया से अलग हुआ है) आदि दूरस्थ भू-प्रदेशों से अनेक जातियाँ भारत में प्रवेश कर चुकी थीं। सबके अपने-अपने रीति-रिवाज, टोरम-टेबू, धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य विचारधाराएँ अलग-अलग थीं।

तापस आदि पंचाग्नि तप में धर्म मानते थे तो याज्ञिक यज्ञ करने में। नरमेध, अश्वमेध आदि के रूप में यज्ञ हिंसक हो चुके थे। जाँति-पाँति का बोलबाला था। नारी की स्थिति पशुओं से भी बदतर थी। पशुओं के समान स्त्री-पुरुषों की दास-दासियों के रूप में सरेआम नीलामी होती थी। ज्ञान के नाम पर अज्ञान का प्रचार हो रहा था। सभी दृष्टियों से भारत पतन की ओर अग्रसर हो रहा था।

ऐसी विषम और विकट परिस्थितियों में भगवान महावीर का जन्म हुआ।

माता-पिता और जन्म

आधुनिक बिहार प्रान्त, उस समय वैशाली गणतंत्र के रूप में प्रसिद्ध था। उस गणतन्त्र में क्षत्रियकुण्ड ग्राम के नरेश थे सिद्धार्थ और इनकी रानी थीं त्रिशला। त्रिशलादेवी के अंगजात और राजा सिद्धार्थ के आत्मज के रूप में महावीर का जन्म हुआ। माता-पिता ने इन्हें वर्द्धमान नाम दिया।

युग प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर

महावीर बचपन से ही मेधावी थे। उन्होंने खुली आँखों से समाज की दशा देखी और समाज में फैले अज्ञानान्धकार, सामाजिक कुरीतियों, दास प्रथा, हिंसक यज्ञ, स्त्री की हीन दशा आदि तत्कालीन सभी बुराइयों को दूर करने का निश्चय किया।

वे क्रान्त द्रष्टा थे। समत्व के साधक थे। किसी भी प्रकार की हिंसा उन्हें अरुचिकर थी। जाति-पाँति के भेद से मानव को अस्पर्श्य मानना उन्हें स्वीकार नहीं था। नारी-मुक्ति और उसे पुरुष के समान अधिकार वे देना चाहते थे। धार्मिक वाद-विवादों को वे व्यर्थ का वितण्डावाद मानते थे। उनकी इच्छा समन्वय और समता की थी। उनकी धारणा और विचारणा थी कि तत्व के सही स्वरूप को न जानने के कारण ही वितण्डावाद और सामाजिक बुराइयों का सृजन होता है।

उन्होंने अपने साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में इन्हीं सब समस्याओं का चिन्तन किया और इनके समुचित निदान खोजे।

आपका साधनाकाल बड़ा ही कंटकाकीर्ण रहा। पग-पग पर उपसर्ग-परीषह और संकटों का सामना करना पड़ा। मनुष्य ही नहीं देवों और पशुओं ने भी कष्ट दिये।

लेकिन समत्व-साधना से सब पर विजय प्राप्त की। इनकी करुणा और कल्याण भावना की स्रोतस्विनी के समक्ष गरल भी अमृत बन गया, देव झुक गये और पापी मानवों के हृदय पश्चात्ताप से भर गये।

तीर्थ की स्थापना के साथ ही उन्होंने अपने धर्मसंघ में मानव-मात्र को स्थान दिया। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र और यहाँ तक कि अनार्य को भी धर्म-साधना के योग्य बताया। वैचारिक मतभेद मिटाने के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त दिया, अहिंसा को प्रतिष्ठा दी और नारी की अस्मिता को उचित महत्व प्रदान किया।

प्रस्तुत सूत्र में अन्तकृत् केवली के रूप में २३ स्त्री साधिकाएँ थीं तो पुरुष साधक १६ थे, इनमें क्षत्रिय भी थे तो वैश्य भी थे।

तत्कालीन विषम परिस्थितियों और कुरीतियों का उन्मूलन कर तीर्थंकर महावीर ने समत्व, समन्वय, अहिंसापूर्ण नवयुग का प्रवर्तन किया, जिससे सिसकती मानवता और प्राणीमात्र ने सुख की सांस ली। उनके द्वारा प्रवर्तित सुख का राजमार्ग आज भी प्रचलित है और आगे भी रहेगा। यही युग-प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर द्वारा बताये गये मार्ग की शाश्वतता तथा विशेषता है।

● ●

अध्याय ४

विविध तप : विधि-विधान और उद्देश्य

तप क्या है ?

तप आत्म-शोधन की प्रक्रिया है। जिस प्रकार आयुर्वेद में अग्नि के संयोग से पारा शुद्ध करके रसायन बनाया जाता है, जो शरीर के लिए बल-वीर्य वृद्धि कारक होता है। उसी प्रकार अध्यात्म जगत में तप की प्रक्रिया द्वारा आत्मा और आत्मा से संलग्न शरीर को शुद्ध किया जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–**तवेण परिसुज्झइ**–तप द्वारा आत्मा की विशुद्धि होती है।

शुद्धिकारक होने के साथ-साथ यह परम मंगल भी है। दशवैकालिक (१/१) में कहा गया है–धर्म उत्कृष्ट मंगल है और वह अहिंसा, संयम तथा तप रूप है।

तप आत्मोत्थान का साधन है। शरीर और मन की शुद्धि करके यह आत्मा को उत्थान की ओर गतिशील बनाता है।

तप अनेक विशिष्ट शक्तियों का कारण भी है। तप-साधक को अनेक प्रकार की विशिष्ट उपलब्धियाँ होती हैं, जिन्हें लब्धि कहा जाता है।

तप का उलटा 'पत' है जिसका अर्थ है–गिरना। इसका संकेत यह है कि तप न करने वाले अथवा विपरीत रूप से तप करने वाले पतित हो जाते हैं, आत्मिक दृष्टि से नीचे गिर जाते हैं।

तप का उद्देश्य

यद्यपि यह सत्य है कि तप से अनेक विशिष्ट शक्तियों की प्राप्ति होती है; लेकिन तप का एकमात्र उद्देश्य कर्मनिर्जरा तथा आत्म-विशुद्धि है। किसी प्रकार की इच्छा या कामना से किया जाने वाला तप, तप नहीं अपितु ताप बन जाता है, जो आत्मा को जलाता रहता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों में भटकाता रहता है और इसका अन्तिम परिणाम विध्वंसकारी एवं विनाशकारी होता है।

यही कारण है कि निष्काम अथवा आत्मशुद्धि के लिए किये जाने वाले तप को श्रेयस्कर माना गया है।

तप के विभिन्न प्रकार

उत्तराध्ययन आदि आगमों में तप के मुख्य भेद दो बताये गये हैं–(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप यद्यपि मुख्य रूप से बाह्य आवरण–शरीर की शुद्धि करता है किन्तु साथ ही आत्मा की शुद्धि भी करता है और आभ्यन्तर तपःसाधना में सक्षम बनकर मुक्ति-प्राप्ति में भी हेतु बनता है। आभ्यन्तर तप आत्मशुद्धि की सहज साधना है।

पुनः बाह्य और आभ्यन्तर–दोनों प्रकार के तपों के छह-छह भेद किये गये हैं–

बाह्य तप के छह भेद हैं–(१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या (४) रस-परित्याग (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता। इन सभी के उत्तर भेद भी हैं।

इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के भी ६ भेद हैं–(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग। इन सभी के उत्तर भेद भी गिनाये गये हैं।

बाह्य तपः भेद, लाभ, विधि

बाह्य तप के छह भेद उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेखित किये जा चुके हैं। अब इनका संक्षिप्त स्वरूप, लाभ और विधि आदि का वर्णन किया जाता है।

(१) **अनशन**–अनशन बाह्य तप का प्रथम भेद है इसे तप महल का प्रथम सोपान भी कहा जा सकता है। आत्मा के आवरणों–तैजस और औदारिक अथवा सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की शुद्धि अनशन तप से ही होती है।

अशन का अभिप्राय है आहार और अनशन का अभिप्राय है निराहारता–आहार ग्रहण न करना।

अनशन से शरीर को तो लाभ होता ही है, उसके विकार समाप्त हो जाते हैं, साथ ही आत्मा को भी लाभ होता है।

जिस प्रकार सप्ताह में एक दिन का अवकाश मिलता है तो उस दिन आराम करके व्यक्ति तरोताजा हो जाता है, मशीनरी भी विश्राम करके पुनः ठीक ढंग से चलने लगती है। पंखे, हीटर, जनरेटर आदि विद्युत उपकरण भी आराम चाहते हैं, यदि लगातार चलाए जायें तो फुँक जाते हैं, इनको भी विश्राम देना आवश्यक है।

इसी प्रकार हमारे शरीर की मशीनरी है। आहार करने से शरीर के समस्त अवयवों को काम करना पड़ता है। पाचक यंत्र आहार का पाचन करते हैं, लिवर

रक्त बनाता है आदि। लगातार आहार लेने से इन्हें विश्राम नहीं मिलता, अतः इनमें गड़बड़ी आने लगती है। परिणामस्वरूप अग्निमांद्य, कब्ज, गैस, अल्सर आदि अनेक रोग उभरने लगते हैं। इनके शमन का एकमात्र सरल उपाय है–अनशन। इसलिए आयुर्वेद में लंघन को परम औषध कहा गया है।

अनशन का यह लाभ तो स्थूल शरीर में स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन इसका आत्मिक लाभ भी है। उसका अनुभव तप साधक करता है।

मात्र अनशन–आहार ग्रहण करना, भूखा रहना अनशन तप नहीं है। अनशन तप तब बनता है जब इसका उद्देश्य आत्म-शोधन अथवा आत्मा से संपृक्त शरीर का शोधन हो।

आध्यात्मिक क्षेत्र में अनशन का दूसरा नाम उपवास भी है। उपवास का अभिप्राय है आत्मा के समीप रहना यानी भोजन आदि की क्रियाओं को त्याग कर संपूर्ण समय आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करना।

अनशन तप, यदि गहराई और विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह तप रूपी महल की आधारभूमि है।

अनशन तप के उपभेद–अनशन तप बहुत विस्तृत है, इसके अनेक उपभेद हैं लेकिन उन सबको काल की समय-सीमा की दृष्टि से दो उपभेदों में वर्गीकृत कर दिया गया है–

(१) **इत्वरिक**–यह तप एक निश्चित समय-सीमा निर्धारित करके किया जाता है। यह एक उपवास चतुर्थभक्त से लेकर छह मास तक का हो सकता है।

(२) **यावत्कथिक**–इसमें जीवन भर के लिए अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक आहार ग्रहण करने का त्याग कर दिया जाता है। जीवन की अन्तिम बेला में यह तप संलेखना के साथ किया जाता है। इसी को संथारा भी कहा जाता है।

इत्वरिक तप के उपभेद

समय-सीमा निर्धारित करके आहार-त्याग रूप इत्वरिक तप के प्रमुखतया ६ उपभेद हैं।

(१) **श्रेणी तप**–चतुर्थ भक्त (उपवास), बेला, तेला, चौला, पंचोला, अठाई, पाक्षिक, मासखमण आदि से लेकर छह मास तक का अनशन तप श्रेणी तप होता है।

(२) **प्रतर तप**–अंकों के क्रम से अनशन करना प्रतर तप है। उदाहरणार्थ–१, २, ३, ४; २, ३, ४, १; ३, ४, १, २ आदि अंकों के आधार से तप करना।

(३) **घन तप**–घन के कोष्ठों में आने वाले अंकों के आधार पर तप करना। यथा–८×८=६४ इस आधार पर तप करना।

(४) **वर्गतप**–यथा ६४×६४=४०९६ इन अंकों के अनुसार तप करना।

(५) **वर्ग-वर्गतप**–४०९६×४०९६=१६७७७२१६ इन अंकों के अनुसार तप करना।

(६) **प्रकीर्णक तप**–इसे विविध (Miscellaneous) तप कहा जा सकता है। इसके उत्तरभेद भी अनेक हैं। कनकावली, मुक्तावली, एकावली, महासिंहनिष्क्रीड़ित, लघुसिंहनिष्क्रीड़ित, गुणरत्नसंवत्सर, वज्रमध्यप्रतिमा, यवमध्यप्रतिमा, भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्र प्रतिमा, आयंबिल वर्द्धमान आदि प्रकीर्णक तप के अनेक भेद हैं।

नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकासन, एकल ठाणा (एक स्थान), दिवस चरिम, रात्रि-भोजन त्याग, अभिग्रह, चतुर्थभक्त, आयंबिल–इन दस तपों की गणना भी प्रकीर्णक तप में की जाती है।

इस प्रकार अनशन तप बहुत व्यापक है और साधकों द्वारा अधिकांशतः इसकी साधना की जाती है। इसका महत्व यह है कि सभी मुक्तिगामी जीव, यहां तक तीर्थंकर भी मुक्तिगमन से कुछ दिन पहले ही इस तप की आराधना प्रारम्भ कर देते हैं। संक्षेप में सभी साधक अनशन तप (यावत्कथिक अनशन तप) से मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिसे संथारा भी कहा जाता है।

(२) **ऊनोदरी तप**–यह बाह्य तप का दूसरा भेद है। ऊनोदरी का अभिप्राय है–भूख से कम भोजन ग्रहण करना। वस्त्र आदि के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय आवश्यकता से कम लेना-अपने पास रखना। कषाय के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय है–कषायों को–क्रोध, मान आदि को कम करना।

ऊनोदरी तप के भी द्रव्य, भाव आदि की अपेक्षा से आगमों में कई भेद बताये गये हैं।

(३) **भिक्षाचरी तप**–यह तप साधु और साध्वियों के लिए है; क्योंकि उनकी सभी आवश्यकताएँ याचना से ही पूर्ण होती हैं। भोजन, वस्त्र आदि सभी अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ वे सद्गृहस्थ से याचना करके लाते हैं।

इस तप को माधुकरी अथवा भ्रामरी वृत्ति एवं गोचरी भी कहा गया है। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार मधुकर अथवा भ्रमर पुष्पों के अतिरिक्त रस को ही चूसते हैं, उन्हें कष्ट नहीं देते। इसी प्रकार श्रमण-श्रमणी भी कई घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन लेकर अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं। साथ ही जिस प्रकार गाय घास को जड़ से उखाड़कर नहीं खाती, ऊपर-ऊपर का भाग ही चरती

है। उसी प्रकार साधु की भी वृत्ति होती है। गृहस्थ को कष्टित न कर साधु अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है।

भिक्षाचरी तप के अनेक भेद और विधि-विधान आगमों में बताये गये हैं।

गृहस्थों के लिए भिक्षाचरी तप के बदले में वृत्ति परिसंख्यान या वृत्ति संक्षेप तप बताया गया है।

गृहस्थ साधक इस तप में अपनी मन-वचन-काया की, कषायों की वृत्ति आदि को संक्षिप्त/संकुचित करता है।

(४) **रस-परित्याग तप**—यह तप अस्वादवृत्ति की साधना है। भगवान महावीर ने औपपातिक सूत्र में इस तप की दो भूमिकाएँ बताई हैं—(१) रस को ग्रहण ही न करना और (२) अगृहीत रस पर राग न करना।

रस-परित्याग तप में विकृतियों—दूध, दही, तेल, घी, गुड़, मिष्ठान्न आदि का यथाशक्ति त्याग किया जाता है और जो भी खाद्य-पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं, साधक (श्रमण-श्रमणी) उनमें अस्वाद-वृत्ति रखते हैं, स्वाद-मुग्ध नहीं होते।

(५) **कायक्लेश तप**—कायक्लेश का अभिप्राय व्यर्थ ही काया (शरीर) को कष्ट देना नहीं है अपितु विभिन्न आसनों से शरीर को अनुशासित करना है। इस तप का उद्देश्य है—शरीर इतना अनुशासित हो जाय कि एक आसन से स्थिर रह सके, जिससे ध्यान आदि में विघ्न न पड़े; क्योंकि आसन की अस्थिरता से ध्यान प्रवाह में विक्षेप पड़ता है।

इस तप में पद्मासन, अर्धपद्मासन, वीरासन आदि से शरीर को अनुशासित किया जाता है। साथ ही श्वासोश्वास की गति को भी नियन्त्रित और नियमित किया जाता है। इस क्रिया को प्राणायाम भी कहा गया है। प्राणायाम से मन की चंचलता कम होती है और स्थिरता बढ़ती है।

अतः मन और शरीर की स्थिरता में सहायक होने से ध्यान की पूर्व भूमिका तैयार करने के रूप में कायक्लेश तप का महत्त्व है।

(६) **प्रतिसंलीनता तप**—इस तप में श्रमण मन और इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्तियों को मोड़कर अन्तर्मुखी बनाता है—आत्मा में लीन करता है।

इसके चार उत्तर भेद हैं—

(१) **इन्द्रिय प्रतिसंलीनता**—इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर, आत्मा में लगाना।

(२) **कषाय-प्रतिसंलीनता**—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों के प्रवाह में आत्मा को न बहने देना। इसे कषायविजय भी कहा जाता है।

(३) **योग-प्रतिसंलीनता**—मन-वचन-काय इन तीनों योगों का निरोध करना, अशुभ से रोककर शुभ में प्रवृत्त करना।

(४) **विविक्त शयनासन सेवना**–स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित शैया और आसन का उपयोग करना। ऐसे स्थान का त्याग करना जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक का निराबाध (frequently) आवागमन हो अथवा समीप ही उनका निवास हो। क्योंकि इनकी समीपता से श्रमण के मन में विकारीभावों के उत्पन्न होने की संभावना है।

आभ्यन्तर तप के लाभ, भेद और विधि

आभ्यन्तर तप का प्रमुख उद्देश्य कार्मण शरीर का शोधन और कर्मनिर्जरा है। कर्मनिर्जरा से आत्मा की विशुद्धि होती है और मोक्षप्राप्ति का पथ प्रशस्त होता है।

पूर्ववर्णित बाह्य तप औदारिक और तैजस् शरीरों की विशुद्धि करते हैं और आभ्यन्तर तप कार्मण शरीर की। यही आभ्यन्तर तप की विशेषता है।

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

(१) **प्रायश्चित्त तप**–यह आभ्यन्तर का प्रथम भेद है। इसका उद्देश्य है–पाप अथवा स्खलनाओं का शोधन करना, भूल को सुधारना।

पाप अथवा अपराध या स्खलना के लिए उचित दण्ड भी प्रायश्चित्त तप के अन्तर्गत ही परिग्रहीत किये जाते हैं।

इसके आलोचनार्ह आदि दस भेद हैं।

(२) **विनय तप**–विनय का अभिप्राय विनम्रता तथा अनुशासन–दोनों ही है। विनय आठ कर्मों को नष्ट करने वाला है। सामान्य विनम्रता सिर्फ विनय है। विनय तप का रूप तब लेता है; जब श्रमण अपने अहं को छोड़कर आत्मा को विनम्र बनाता है। मान-अभिमान के विसर्जन से ही विनय तप का रूप लेता है। और आत्मपरिणामों की विनम्रता ही विनय तप है।

आगमों में विनय तप के चार, पाँच और सात भेद बताये गये हैं; किन्तु सात भेद अधिक प्रसिद्ध हैं।

(३) **वैयावृत्त्य तप**–वैयावृत्त्य का साधारणतः अर्थ सेवा किया जाता है किन्तु सेवा और वैयावृत्त्य में अन्तर है। वैयावृत्त्य में समर्पण भाव की प्रमुखता है। जब साधक (श्रमण) निष्काम भाव से और इच्छारहित होकर किसी रोगी, अशक्त श्रमण, आचार्य आदि की तन-मन से सेवा करता है और वह भी अग्लान भाव से तब वह सेवा वैयावृत्त्य तप का रूप लेती है।

तपस्वी, ग्लान आदि के रूप में वैयावृत्त्य तप के दस भेद आगमों में बताये हैं।

(४) **स्वाध्याय तप**–मनीषियों ने स्वाध्याय शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ दी हैं। जैसे–सुष्ठु–भली-भाँति, आङ् मर्यादा सहित अध्ययन; स्वाध्याय है। (अभयदेव)।

श्रेष्ठ अध्ययन स्वाध्याय (आवश्यक सूत्र) **स्वयमध्ययनं स्वाध्यायः**–अन्य किसी के सहयोग के बिना स्वयं ही अध्ययन करना। **स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्**–अपनी आत्मा का अध्ययन करना। स्वेन स्वस्य अध्ययनम्–अपने द्वारा ही अपना अध्ययन करना।

इस प्रकार स्वाध्याय के अनेक लक्षण विद्वानों ने बताये हैं। लेकिन स्वाध्याय तप का सरल अर्थ है–धार्मिक पुस्तकों को पढ़ना, मनन और निदिध्यासन करके आत्मा और तत्व के स्वरूप को हृदयंगम करना।

गुरु से वाचना लेना, अपनी शंकाओं का निवारण करना, सीखे हुए ज्ञान की बार-बार परिवर्तना करना, उस पर चिन्तन-मनन करना और धर्म का कथन करके अन्य लोगों को धर्माभिमुख बनाना–ये स्वाध्याय तप के पाँच उत्तर भेद हैं।

स्वाध्याय तप से बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञान स्थायी रहता है, तत्त्व-अतत्त्व का विवेक होता है, और मन की चंचलता समाप्त होकर, वह एकाग्र होता है। स्वाध्याय तप में लीन श्रमण शुभ और शुद्ध भावों में रमण करता है। उसे आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार भी होता है।

(५) **ध्यान तप**–यद्यपि आगमों में चार प्रकार के ध्यान बताये हैं–आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल; लेकिन अशुभ होने से आर्त-रौद्र ध्यान त्याज्य हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही तप की श्रेणी में आते हैं; क्योंकि ये शुभ हैं, शुद्ध हैं और आत्मा की मुक्ति के साक्षात कारण हैं। शुक्लध्यान तो समाधि की अवस्था है और उसका अगला चरण मुक्ति है। मानव जीवन्मुक्त, अरिहंत, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, लोक-अलोक का ज्ञाता तथा वीतरागी बन जाता है।

धर्मध्यान के चार भेद हैं–

(१) **आज्ञा विचय**–वीतराग भगवान–तीर्थंकर की आज्ञा पालन करना।

(२) **अपाय विचय**–कषाय, प्रमाद आदि दोषों से बचने के उपायों का चिन्तन करना।

(३) **विपाक विचय**–कर्मफल पर मनन करना।

(४) **संस्थान विचय**–लोक-अलोक, चतुर्गतिक संसार, छह द्रव्य, नव तत्व आदि के स्वरूप का चिन्तन, मनन और साक्षात्कार करना।

इसी प्रकार शुक्लध्यान के भी चार उत्तर भेद हैं–

(१) **पृथक्त्व वितर्क सविचार**–इस ध्यान में साधक (श्रमण) की ध्यानधारा द्रव्य-पर्यायों और योगों में भ्रमण करती रहती है।

(२) **एकत्व वितर्क अविचार**–इसमें आत्मा के परिणाम एक ध्येय में स्थिर हो जाते हैं। इसकी परिणति केवलज्ञान की प्राप्ति में होती है।

(३) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती–यह ध्यान केवलज्ञानियों को होता है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति–अयोगी केवलियों को होने वाला ध्यान।

धर्मध्यान का प्रारम्भ सम्यक्त्व-प्राप्ति से हो जाता है अतः यह मोक्षमहल का प्रथम सोपान है और शुक्लध्यान है अन्तिम सोपान।

आगमों में इन ध्यानों की भावनाओं, अनुप्रेक्षाओं, लक्षण आदि का भी वर्णन किया गया है।

(५) **व्युत्सर्ग तप**–व्युत्सर्ग का अभिप्राय है ममत्व-विसर्जन। इस ध्यान में काय, कषाय, उपधि, भक्त-प्रत्याख्यान आदि सभी के प्रति ममत्व का त्याग कर दिया जाता है।

यह तप निर्ममत्व भाव की साधना है।

इस प्रकार यह आभ्यन्तर तपकर्मनिर्जरा, और आत्मविशुद्धि के साधन हैं, इनकी आराधना से सिद्धि सुलभ हो जाती है।

बाह्य तप भी सिद्धि-प्राप्ति में सहायक होते हैं। उनकी आराधना से भी साधक मुक्ति का वरण कर लेता है।

प्रकीर्णक तप का विशेष विवेचन

अनशन तप का ही एक भेद है–प्रकीर्णक तप। यह तप अनेक प्रकार का है। इसके कई उत्तर भेद हैं। इनमें से कुछ प्रमुख तपों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) गुणरत्नसंवत्सर तप

इस तप की व्याख्या इन शब्दों में की गई है–

जिस तप में गुण रूप रत्नों वाला संपूर्ण वर्ष बिताया जाय वह गुणरत्न संवत्सर तप कहा जाता है। इस तप में ४८० दिन यानी १६ महीने लगते हैं; जिसमें ४०७ दिन तपस्या (अनशन तप) के हैं और ७३ दिन पारणे (आहार ग्रहण) करने के हैं।

आराधना-विधि–उपर्युक्त १६ महीनों में से साधक प्रथम मास में १दिन तप और दूसरे दिन पारणा (आहार ग्रहण) करता है। दूसरे महीने में बेला तप (दो दिन का उपवास) करके तीसरे दिन आहार लेता है। तीसरे मास में तीन दिन का उपवास और चौथे दिन पारणा। चौथे महीने में चार दिन की तपस्या और पाँचवें दिन पारणा। इसी प्रकार छठे महीने में छह दिन की तपस्या के बाद पारणा किया जाता है।

इस तरह प्रति माह तपस्या का एक-एक दिन बढ़ाते हुए पारणा किया जाता है और सोलहवें मास में सोलह दिन की तपस्या के बाद पारणा किया जाता है।

इस तप की आराधना के काल में तपस्वी दिन के समय उत्कटुक आसन से अवस्थित रहकर सूर्य की आतापना लेता है और रात्रि के समय वस्त्रहीन होकर तथा वीरासन से अवस्थित होकर ध्यान-साधना करता है।

इस प्रकार १६ महीने (४८० दिन) में सिर्फ ७३ दिन आहार लेना, दिन में सूर्य की आतापना, रात्रि में निर्वस्त्र होकर ध्यान-साधना तथा ४०७ दिन की तपस्या के कारण यह गुणरत्नसंवत्सर तप बहुत ही दुष्कर है।

अन्तकृद्दशा सूत्र में यह तप गौतमकुमार आदि १८ साधकों तथा किंकम, मकाई, अतिमुक्त आदि ने किया था तथा इसकी फलश्रुतिरूप कर्मों की निर्जरा की और अन्तकृत केवली बनकर अपने जीवन के लक्ष्य–मुक्ति को प्राप्त किया था।

(२) रत्नावली तप

रत्नावली गले में पहनने का हार (स्त्रियों का आभूषण विशेष) होता है। जिस प्रकार इस हार की रचना होती है, उसी क्रम से जो तपाराधना की जाती है, उसको रत्नावली तप कहा जाता है। रत्नावली हार प्रारम्भ में दोनों ओर से पतला (सूक्ष्म), फिर मोटा और बीच में अधिक मोटा तथा फिर क्रमशः सूक्ष्म आकार वाला होता है, इसी क्रम की तपाराधना रत्नावली तप है।

जिस प्रकार यह हार शरीर की शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार यह तप भी आत्मा की मलिनता नष्ट करके, उसके सद्‌गुणों को दीपित करता है।

आराधना काल–रत्नावली तप की चार परिपाटियाँ होती हैं। प्रत्येक परिपाटी में १ वर्ष, ३ मास, २२ दिन लगते हैं। अतः चारों परिपाटियों के पूर्ण होने में ५ वर्ष २ मास २८ दिन का समय लगता है।

अन्तकृद्दशा सूत्र में यह रत्नावली तप काली आर्या ने किया और अपनी आत्म-विशुद्धि की।

(३) कनकावली तप

कनकावली भी एक आभूषण का नाम है। जिस प्रकार इस आभूषण की रचना होती है, उसी क्रम से जो तप किया जाता है, वह कनकावली तप कहलाता है।

रत्नावली और कनकावली तप में काफी समानता है लेकिन कुछ भिन्नताएँ भी हैं।

अन्तकृद्दशा सूत्र में यह कनकावली तप आर्या सुकाली ने किया।

(४) लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप

जिस प्रकार चलता हुआ सिंह पीछे मुड़कर गमन किये हुए क्षेत्र को देखता है–सिंहावलोकन करता है। उसी प्रकार जिस तप में की हुई तपस्या को मुड़कर

फिर तपस्या करके आगे बढ़ा जाय–तपस्या की जाय, उसे लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

यह तप आर्या महाकाली ने किया था।

(५) महासिंहनिष्क्रीड़ित तप

महासिंहनिष्क्रीड़ित तप उतार-चढ़ाव युक्त है।

साधना-विधि–इसमें एक अनशन-पारणा, दो अनशन–पारणा इस क्रम से सोलह अनशन तप तक चढ़ा जाता है और फिर इसी क्रम से उतरकर एक अनशन–पारणा तक आया जाता है।

इस तप की आराधना आर्या कृष्णा ने की।

(६) मुक्तावली तप

मुक्तावली का शाब्दिक अर्थ है–मोतियों का हार अथवा मोतियों की माला। दूसरे शब्दों में इसे मुक्ताहार भी कहा जाता है। जिस प्रकार मुक्ताहार में मोती क्रम से छोटे-बड़े के रूप में पिरोये जाते हैं तथा अन्त में गुच्छक दिया जाता है, उसी प्रकार से जिस तप में उपवासों की अवस्थिति होती है, उसे मुक्तावली तप कहा जाता है।

यह तप पितृसेन कृष्णा ने किया था।

(७) आयम्बिल वर्द्धमान तप

इस तप में आयम्बिल की संख्या क्रमशः बढ़ाई जाती है, इस कारण इसका नाम आयम्बिल वर्द्धमान तप है।

इस तप की आराधना महासेन कृष्णा ने की थी।

उपसंहार

तपों का यह संक्षिप्त विवेचन है। अन्तकृद्दशा सूत्र में राजा श्रेणिक की रानियों–साधिकाओं द्वारा आचरित तपों का वर्णन पढ़ते हैं तो शरीर रोमांच से भर जाता है। सुकुमार शरीर वाली साधिकाओं की ऐसी दुष्कर और कठोर तपोसाधना पर विचार करते हुए हृदय उनके प्रति श्रद्धा से तरंगित होने लगता है, मस्तक झुक जाता है, वाणी वीणा झंकृत हो उठती है–धन्य हैं ऐसी महान तपोसाधिकाएँ।

● ●

अध्याय ५

संलेखना-संथारा : एक पर्यालोचन

संलेखना-संथारा जैन धर्म के विशिष्ट शब्द हैं। संलेखना का अभिप्राय है–मृत्यु कला। वीरतापूर्वक, निर्भय होकर मृत्यु का स्वागत करना।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशांग सूत्र में वर्णित सभी साधक (गजसुकुमाल मुनि के अतिरिक्त) अपने अन्तिम समय में संलेखना–संथारा की आराधना करते हुए देह का विसर्जन करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः यहाँ संलेखना–संथारा का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

पहले हम संलेखना को लेते हैं।

संलेखना का अभिप्राय

संलेखना शब्द शाब्दिक दृष्टि से दो शब्दों के सम्मिलन से निष्पन्न हुआ है–सत्+लेखना अथवा सं+लेखना। सन्धि नियम के अनुसार क्रमशः इनका रूप बनता है–सल्लेखना तथा संलेखना। लेकिन सत् शब्द भी यहाँ सम्यक् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सत् अर्थात् सम्यक् रूप से लेखना अर्थात् कृश करना, क्षीण करना यानी सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को क्षीण करना संलेखना है।

जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्मबन्धन का मूल कारण माना गया है। उपलक्षण से यहाँ काय में मन और वचन भी गर्भित है। तथा कषाय के तो चार भेद हैं ही–क्रोध, मान, माया और लोभ। कर्मग्रन्थों में जो योग और कषाय से कर्मबन्धन माना गया है, वही अभिप्राय यहाँ काय और कषाय से है।

इसका फलित यह है कि संलेखना में जो काय और कषाय को कृश अथवा क्षीण किया जाता है, उससे कर्मबन्धन भी क्षीण होते हैं और क्षीण होते-होते क्षय भी हो जाते हैं। परिणामस्वरूप साधक कर्म-बन्धनों से मुक्त भी हो जाता है।

यही कारण है कि प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति, चाहे वह श्रावक हो अथवा श्रमण हो, संलेखना-संथारापूर्वक अपनी इहलीला समाप्त करने की भावना रखता है।

संलेखना की भावना

संलेखना की भावना होते हुए भी अचानक ही संलेखना ग्रहण नहीं की जाती। इसके लिए साधक अपनी शारीरिक स्थिति पर विचार करता है, गुरु के समक्ष अपनी भावना प्रगट करता है, अनुभवी गुरु उचित समझते हैं तो संलेखना की आज्ञा देते हैं और गुरु की आज्ञा पाकर ही साधक संलेखना ग्रहण करता है।

आगमों के वर्णन के अनुसार साधक संलेखना ग्रहण करने से पूर्व अपने शरीर की स्थिति पर इस प्रकार विचार करता है–

अब मेरा शरीर बहुत कृश हो चुका है, बल-वीर्य बहुत कम हो गये हैं। अपनी आत्म-शक्ति उत्थान-पराक्रम से ही उठने-बैठने-चलने-फिरने की क्रिया कर पाता हूँ। इन क्रियाओं में भी मुझे क्लेश का अनुभव होता है। इस जीर्ण शरीर से नित्य क्रियाएँ भी नहीं कर पाता हूँ। धर्म-साधना में यह शरीर साधक न होकर बाधक बनता जा रहा है। ऐसे शरीर को धारण करने से अब कोई लाभ नहीं है। इसे त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

इस भावना को गुरु के सामने व्यक्त करने पर जब गुरु की आज्ञा प्राप्त हो जाये और वे संलेखना-संथारा करा दें। तब साधक संलेखना की प्रक्रिया अपनाते हुए विधिवत् उसकी आराधना करता है।

संलेखना की विधि

सर्वप्रथम साधक आहार की मात्रा क्रमशः अल्प करता हुआ शरीर को और भी कृश करता है, साथ ही कषायों को भी कृश-क्षीण करता जाता है।

आहार में यहाँ अशन, पान, खादिम, स्वादिम-चारों प्रकार का आहार सम्मिलित है। साधक अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार क्रमशः आहार आदि को कम करता हुआ, त्याग कर देता है और शांतिपूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा करता है तथा मृत्यु के समय समाधिपूर्वक उसका वरण करता है।

संलेखना का कालमान

यों तो संलेखना का कालमान निश्चित करना बहुत ही जटिल समस्या है। क्योंकि अन्तकृद्दशा सूत्र में ही कुछ साधक एक मास की संलेखना द्वारा ही मुक्त होते हैं तो अर्जुनमाली अनगार पन्द्रह दिन की ही संलेखना के उपरान्त मुक्त हो जाते हैं। वर्तमान काल में भी कोई साधक चालीस दिन की संलेखना से तो कोई चौथे दिन ही देह त्याग कर देते हैं।

फिर भी प्रवचनसारोद्धार आदि प्राचीन ग्रन्थों में संलेखना का उत्कृष्ट कालमान बारह वर्ष का बताया गया है, मध्यम १२ मास का और जघन्य ६ मास का कहा गया है। वहाँ विस्तारपूर्वक संलेखना विधि भी वर्णित की गई है।

इस संक्षिप्त लेख में उस समग्र विधि का वर्णन न तो संभव है और न इच्छित ही। लेकिन इतना यथार्थ है कि इस विस्तृत वर्णन से संलेखना की विशुद्धता और महत्व पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि काय-कषाय को कृश करता हुआ तथा मनोग्रिह के परिणामस्वरूप साधक परमहंस (विकारशून्यता) की स्थिति प्राप्त कर लेता है तथा समाधिपूर्वक--शांत परिणामों से शरीर का त्याग करता है।

संलेखना ग्रहण में सतर्कता

संलेखना की आराधना प्रारम्भ करने से पहले साधक को सतर्कता रखना आवश्यक है। यदि उसने संलेखना की आराधना प्रारम्भ कर दी, अनशन भी शुरू कर दिया, काय और कषाय को भी क्षीण कर दिया; किन्तु आयु-कर्म अभी प्रबल है, मृत्यु का समय सन्निकट नहीं है, आयु की डोरी निकट भविष्य में टूटने वाली नहीं है तो अनशन लम्बे समय तक चल सकता है। परिणामस्वरूप यह भी संभव है कि क्षुधा-पिपासा की तीव्र वेदना के कारण साधक के भाव कलुषित हो जायँ, परिणाम मलिन हो जायँ, भावों की उज्ज्वलता उच्च कोटि की न रहे।

इसलिए संलेखना ग्रहण के पूर्व साधक अपनी शारीरिक स्थिति का विचार तो करे ही साथ ही आयुष्य बल का विचार करना भी अति आवश्यक है।

संसारी व्यक्ति दस प्राणों से जीवित रहता है--वे हैं इन्द्रिय बल प्राण (६--८) मन-वचन-काय बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास और (१०) आयु बल प्राण। इनमें आयु बल सबसे प्रबल है। इन्द्रिय और योगबल क्षीण हो सकते हैं, श्वास का आवागमन भी अवरुद्ध हो सकता है; लेकिन आयु शेष हो तो प्राणी पुनः जीवित हो सकता है और वर्षों तक जीवित रहता है।

आधुनिक युग में भी जब चिकित्सा विज्ञान (Medical Science) इतना उन्नत हो चुका है, ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं, जब डॉक्टरों ने किसी व्यक्ति को मृत घोषित कर दिया, जीवन का कोई लक्षण न रहा, परिवारी जन श्मशान ले गये; लेकिन वह चिता पर से उठ बैठा और वर्षों तक जीवित रहा।

उपरोक्त वर्णन का अभिप्राय यह है कि संलेखना ग्रहण करने से पूर्व आयु कर्म पर विचार करना आवश्यक है। इसीलिए जैन शास्त्रों में यह विधान किया गया है कि अनुभवी गुरु से आज्ञा लेकर ही संलेखना ग्रहण करनी चाहिए।

संलेखना और अनशन

प्रस्तुत अन्तकृद्दशांग सूत्र और अन्य आगमों में भी जब साधक संलेखना की आराधना करता है तब यही पाठ उपलब्ध होता है–**मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता–जाव सिद्धे**। प्रस्तुत पाठ से यह सिद्ध होता है कि संलेखना और अनशन साथ-साथ चलते हैं और इस सम्मिलित प्रयास से काय और कषाय की क्षीणता होती है तथा संलेखना और अनशन जीवन के अन्तिम समय तक चलते हैं और साधक सुगति अथवा मुक्ति का अधिकारी बन जाता है।

जीवन की अन्तिम साधना: संलेखना

जिस प्रकार परीक्षा विद्यार्थी के वर्ष भर की शिक्षा की कसौटी है कि उसने कितना पढ़ा, कितना कंठस्थ किया; उसी प्रकार संलेखना साधक-जीवन की अन्तिम परीक्षा है कि उसने धर्म को जीवन में कितना उतारा है, व्रत-नियम-संयम आदि का कितना पालन किया है वह अनुभूति के स्तर पर कितनी डिग्री तक पहुँचा है।

संलेखना, साधक जीवन की अन्तिम साधना है, इसके उपरान्त अन्य कोई साधना शेष नहीं रहती जैसा कि संलेखना के पाठ से स्पष्ट है–**अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा आराहणा**। यहाँ अपच्छिम और मारणंतिय–इन दो शब्दों से स्पष्ट है कि संलेखना साधक-जीवन की अन्तिम साधना है और जीवन के अस्त तक इसकी आराधना की जाती है।

संलेखना का महत्व एवं विशेषताएँ

संलेखना साधक-जीवन की महत्वपूर्ण आराधना है। इस साधना से साधक के सभी दुःखों और कष्टों का अन्त हो जाता है।

संलेखना ग्रहण करते समय साधक सभी जीवों से क्षमायाचना करके स्वयं को वैर-वैमनस्य और विरोध आदि हीन प्रवृत्तियों का त्याग करता हुआ समभावों में रमण करता है, विषम भाव अपने हृदय में नहीं आने देता। मैत्री भाव में रमण करता है।

वह न मृत्यु से भयभीत होता है और न मृत्यु की इच्छा ही करता है। जिस तरह उसने जीवन को उच्चतम ढंग से जीया है उसी तरह मृत्यु को भी कलात्मक रूप से अपनाता है। वह मृत्यु को भयोत्पादक नहीं अपितु महोत्सव मानता है।

वस्तुतः मृत्यु से वही भयभीत होते हैं जो मृत्यु का स्वरूप नहीं जानते। जिन्होंने इस जीवन में सत्कर्म न किये हों, पापकर्म किये हों–वे इस आशंका से

भयभीत होते हैं कि आगामी जन्म हमारे लिए घोर दुःखपूर्ण होगा। ऐसे लोगों को ही मृत्यु अन्धकारपूर्ण और त्रासदायी दिखाई देती है। इसके विपरीत जो लोग धार्मिक जीवन जीते हैं, आशाओं-इच्छाओं-आकांक्षाओं के दास नहीं होते, तृष्णा नागिन जिन्हें नहीं डसती उनके लिए मृत्यु उतनी ही सहज होती है, जैसे–पुराने वस्त्र को उतार कर नया वस्त्र पहन लेना।

संलेखना की आराधना में दत्तचित्त साधक न जीने की इच्छा करता है, न मृत्यु की, न उस लोक में प्रशंसा-प्राप्ति की इच्छा होती है, न आगामी जीवन में सुख-प्राप्ति की तथा न किसी भी प्रकार के काम भोगों की आशंसा। वह इन सबसे दूर रहकर शांतिपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करता है।

मरण के प्रकार

प्रसंगोपात्त यहाँ मरण के प्रकारों को जानना आवश्यक है। इसके प्रमुख भेद दो हैं–(१) सकाममरण (२) अकाम-मरण अथवा (१) अनैच्छिक मरण और (2) *स्वैच्छिक मरण अथवा (१) बालमरण और (२) पण्डितमरण। पण्डितमरण का ही* दूसरा नाम समाधिमरण है।

बालमरण के अनेक प्रकार हैं और यह सामान्यतः सभी असंयमी और अज्ञानी प्राणियों को होता रहता है। भगवती आदि आगमों में बालमरण के १२ भेद बताये गये हैं। लेकिन आज के प्रगतिशील भौतिकवादी वैज्ञानिक चमत्कारों से भरे चकाचौंध युग में बालमरण के अनेक प्रकार प्रचलित हो गये हैं।

संक्षेप में बालमरण कषायों की तीव्रता के आवेश में, वर्तमान कष्टों से मुक्ति की आशा तथा आगामी जन्म में सुखोपभोगों की लालसा से बलात् प्राणों का त्याग करना है।

संलेखना न आत्महत्या है, न स्वेच्छामृत्यु

वर्तमान युग तर्कवादी और बुद्धिवादी है। साथ ही एक वस्तु, सिद्धान्त और प्रक्रिया से दूसरी वस्तु, सिद्धांत अथवा प्रक्रिया की तुलना करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। प्राचीन आध्यात्मिक धार्मिक सिद्धान्तों, साधनाओं को भी आधुनिक भौतिकवादी सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का प्रयास किया जा रहा है। यहाँ तक कि उन उच्चकोटि की साधनाओं पर आक्षेप भी लगाये जा रहे हैं।

कुछ अतिबुद्धिवादी संलेखना और समाधिमरण पर आत्महत्या का आक्षेप लगाते हैं। लेकिन संलेखना और आत्महत्या में आकाश पाताल का अन्तर है।

(१) आत्महत्या सदा क्रोध आदि कषायों के तीव्र आवेगों में की जाती है; जबकि संलेखना में कषाय अत्यंत क्षीण होते हैं।

(२) परिस्थितियों से उत्पीड़ित, उद्विग्न और जिनकी इच्छाएँ पूर्ण होने की आशा समाप्त हो चुकी हो; ऐसे व्यक्ति आत्महत्या करते हैं। जबकि संलेखना करके व्यक्ति न उद्विग्न होते हैं और न इनकी कोई इच्छाएँ ही होती हैं।

(3) आत्महत्या में बलात् मृत्यु का वरण होता है, मैं मरूँगा–ऐसी उत्कट इच्छा होती है; जब संलेखना में मृत्यु की इच्छा ही नहीं होती।

(४) आत्महत्या विषभक्षण, शस्त्रास्त्र के प्रयोग, बहुत ऊँचाई से गिरने, गला घोंटने आदि विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा होती है; संलेखना में ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं अपनाई जाती।

(५) आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के भाव निश्चित रूप से अशुभ तथा पापमय होते हैं; जबकि संलेखना में निश्चित रूप से शुभ भाव ही होते हैं।

इसी प्रकार और भी अन्तर हैं; जिससे आत्महत्या तथा संलेखना में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

आक्षेपक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आहार-त्याग से शरीर क्षीण होकर मृत्यु हो जाती है। यह मृत्यु की धीमी प्रक्रिया (slow process) है। अतः आत्मघात ही है।

लेकिन यह कथन सर्वथा भ्रान्त है। आहार कम लेने अथवा सर्वथा त्याग कर देने से शरीर दुर्बल तो हो सकता है; लेकिन आयुकर्म भी टूट जाय, यह आवश्यक नहीं है। फिर आत्महत्या कभी इस प्रकार की धीमी प्रक्रिया से नहीं की जाती। वर्तमान कष्टों से घबड़ाकर व्यक्ति तुरन्त ही आत्मघात कर लेता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक ही झटके में रस्सी तोड़ दी जाती है।

अतः यह निश्चित है कि संलेखना किसी भी प्रकार से आत्महत्या नहीं है।

पिछले ५-६ वर्ष से एक नया शब्द प्रचलित हो गया है–स्वेच्छा मृत्यु। यह एकांगी शब्द है। वास्तविक शब्द है अंग्रेजी भाषा का शब्द Mercy Killing (मर्सी किलिंग) अर्थात् दया मृत्यु अथवा दया की भावना से मारना।

उदाहरणार्थ–कोई व्यक्ति घोर वेदना से तड़प रहा है। चिकित्सा की सीमाएँ समाप्त हो चुकी है। अच्छी से अच्छी औषध भी न तो उसके रोग का उपचार कर सकती है और न पीड़ा को ही शांत कर पाती है। तब वह व्यक्ति डॉक्टर से प्रार्थना करता है कि डॉक्टर साहब ! मुझे विष का ही इंजक्शन दे दीजिए, इस घोर पीड़ा से त्राण दिलाइये। और अपनी विवशता से मजबूर होकर वह डॉक्टर विष प्रयोग द्वारा उसका जीवन समाप्त कर देता है।

उस रोगी ने स्वयं मौत माँगी थी, इस अपेक्षा से ऐसे मरण को स्वेच्छा मृत्यु कहा जाता है लेकिन डॉक्टर के दृष्टिकोण से यह दया मृत्यु है कि डॉक्टर ने दया करके उसे पीड़ा से मुक्त करा दिया।

यद्यपि नीदरलैंड, स्वीडन आदि देशों की सरकारों ने इस दया-मृत्यु को स्वीकृति दे दी है लेकिन उसमें कानूनी जटिलताएँ इतनी ज्यादा हैं, जिन्हें पूरा करना बहुत मुश्किल है।

लेकिन विचार किया जाय तो यह हत्या का ही एक प्रकार है। विष-प्रयोग द्वारा डॉक्टर उस रोगी की हत्या कर रहा है और पीड़ा से घबड़ाकर मृत्यु की इच्छा करने वाला—स्वेच्छा मृत्यु का वरण करने वाला रोगी अपनी आत्महत्या कर रहा है।

फिर इसे संलेखना कैसे कहा जा सकता है? संलेखना का साधक तो संकटों से घबड़ाकर मृत्यु की इच्छा करता ही नहीं, वह तो शांति और समाधिपूर्वक मृत्यु का स्वागत करता है, मृत्यु को महोत्सव मानता है।

अतः स्वेच्छा मृत्यु को समाधिमरण मानना एक सर्वथा भ्रान्त धारणा है।

संथारा

'संलेखना' के साथ 'संथारा' शब्द का प्रयोग सामान्यतः प्रचलित है। आगमों के अनुसार 'संथारा' का शाब्दिक अर्थ—'संस्तारक—अथवा बिछौना' है। किन्तु संलेखना के प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ यहाँ 'अनशन' है। 'संलेखना-संथारा' यह सामूहिक प्रयोग अधिकांशतः प्राप्त होता है तथा यहाँ संथारा का अर्थ शरीर तथा संसार के प्रति आसक्ति का त्याग है।

संथारा क्या है?

संथारा एक विशिष्ट साधना पद्धति है। साधक जब संथारा स्वीकार करता है तब वह पूर्ण रूप से आसक्ति रहित होता है। अपने शरीर से सम्बन्धि वस्तुओं और संसार के प्रति वह विरक्त हो जाता है, आत्मिक भावों में रमण करता है। उस समय उसके मन में जीवन और मृत्यु का कोई विकल्प ही नहीं रहता। वह तो आत्मिक अनुभूति और आत्मानन्द में लीन रहता है। वह अनशन करता है, भोजन आदि नहीं लेता है—यह केवल शाब्दिक वर्णन है। वास्तविकता यह है उसे आहार-पानी की इच्छा ही नहीं होती, अठारह प्रकार के पापों की ओर उसका मन ही नहीं जाता, वह तो समरसी भाव में ही निमग्न रहताा है; जहाँ न भूख-प्यास है, न विषय विकार हैं और न किसी प्रकार की इच्छा, आकांक्षा तथा अभिलाषा ही है एवं न किसी प्रकार का भय ही है—न जन्म का, न मृत्यु का और न उपसर्गों परीषहों का।

संथारा मृत्यु का वरण नहीं अपितु संवरण है। जन्म-मृत्यु को निश्शेष करने की एक प्रक्रिया है। यदि संथारा की उत्कृष्ट साधना हो जाय तो साधक आवागमन के चक्र से विमुक्त होकर मुक्ति का अव्याबाध अनन्त सुख प्राप्त कर लेता है। और यदि साधना में कुछ कमी रह गई तो सुगति तो निश्चित है ही।

लेकिन साधक सुगति आदि की इच्छा नहीं करता, उसका लक्ष्य तो पूर्ण आत्मशुद्धि होता है। उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह साधना करता है।

संथारा के प्रकार

संथारा के मुख्य दो प्रकार हैं-(१) सागारी अथवा आगार सहित और (२) सामान्य।

सागारी संथारा किसी विशेष आपत्ति, संकट आदि के समुपस्थित होने पर किया जाता है और संकट समाप्त होने पर संथारा भी समाप्त कर दिया जाता है। यह जीवन भर के लिए नहीं होता। संकट समाप्त होने पर इसकी मर्यादा पूर्ण हो जाती है।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशांग सूत्र के छठे वर्ग के तीसरे मुद्गरपाणि यक्ष नाम के अध्ययन में सागारी संथारा की विधि मर्यादा आदि का उल्लेख हुआ है। वहाँ श्रेष्ठी सुदर्शन सागारी संथारा करता है।

भगवान महावीर राजग्रह नगर के बाहर पधारे। उस समय नगरी के बाहर यक्षाविष्ट अर्जुनमाली का आतंक छाया हुआ था। वह देखते ही मनुष्य को मुद्गर प्रहार से मार डालता था।

सुदर्शन इस आतंक की चिन्ता न करके भगवान के दर्शनों के लिए नगरी से बाहर निकलता है। यक्षाविष्ट अर्जुनमाली उसे देखते ही मुद्गर उठाकर उसे मारने के लिए आगे बढ़ता है तब श्रेष्ठी सुदर्शन सागारी संथारा ग्रहण करता है। सूत्र के मूल पाठ का संक्षिप्त सारांश यह है-

सुदर्शन श्रेष्ठी ने अपने ग्रहीत व्रतों को पुनः जीवन भर के लिए दृढ़ किया, अठारह पापों तथा चारों प्रकार के आहार का त्याग किया और प्रतिज्ञा ग्रहण की-

"यदि मैं इस उपसर्ग (मुद्गरपाणि यक्ष से आविष्ट अर्जुनमाली के उपसर्ग) से मुक्त हो जाऊँगा तो मुझे इन (उपरोक्त) प्रत्याख्यानों को पारणा कल्पता है। यदि इस उपसर्ग से मुक्त न हो सकूँ तो (मेरे द्वारा ग्रहण किये गये) ये सभी प्रत्याख्यान शरीर में जब तक प्राण रहें तब तक के लिए हैं।"

इस प्रतिज्ञा के साथ सुदर्शन श्रेष्ठी ने भगवान महावीर की शरण ली और सागारी संथारा स्वीकार कर लिया और भगवान के ध्यान में लीन हो गया।

और जैसे ही वह उपसर्ग समाप्त हुआ, अर्जुनमाली के शरीर में से यक्ष निकल भागा, संकट समाप्त हुआ, इस सागारी संथारे की मर्यादा पूर्ण हो गई। श्रेष्ठी सुदर्शन ने ध्यान खोल लिया तथा अर्जुनमाली की प्रार्थना पर उसे साथ लेकर भगवान महावीर के समवसरण में जा पहुँचा।

यह सागारी संथारा श्रावक और साधु–दोनों ही आसन्न संकट उपस्थित होने पर कर सकते हैं। उदाहरणार्थ–कोई साधु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को विहार कर रहा है। बीच में वनमार्ग में डाकू आदि असामाजिक तत्वों का उपद्रव हो जाय, अथवा ब्रह्मचर्य महाव्रत भंग होने का प्रसंग या ऐसी ही कोई विषम प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाय तो वह भी सागारी संथारा कर सकता है।

संथारा पोरसी

विवेकी और व्रतधारी श्रावक कभी भी असावधान नहीं रहते। लेकिन रात्रि को सोते समय चेतना धुँधली पड़ जाती है, जाग्रत अवस्था जैसी सावधानी नहीं रह पाती। शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। निद्रा एक प्रकार से व्यक्ति की अल्पकालीन मृत्यु ही है। अतः वह रात्रि को सोते समय सागारी संथारा ग्रहण करता है, जिसे संथारा पोरसी भी कहा जाता है।

सामान्यतः इस प्रकार के संथारे के लिए एक दोहा प्रसिद्ध है–

आहार शरीर उपधि, पचखूँ पाप अठार ।
मरण होवे तो वोसिरे, जीवूँ तो आगार ।।

प्रातः नींद खुलने तथा ९ बार णमोकार मंत्र गिनने पर इस संथारे की समय मर्यादा पूर्ण हो जाती है। इसका महत्व यह है कि धर्मध्यान की धारा अंतरंग में चलने से दुःस्वप्न भी नहीं आते। साधक के तनाव मिट जाते हैं, चित्त शांत हो जाता है और वह शांतिपूर्वक प्रगाढ़ निद्रा लेता है। सुख की नींद लेने से प्रातः तरोताजा होकर उठता है। उसका दिन आलस्यरहित व्यतीत होता है।

सामान्य संथारा

यह यावज्जीवन संथारा होता है और अन्तिम साँस तक चलता है। संलेखना के साथ जहाँ-जहाँ संथारा शब्द प्रयुक्त होता है वहाँ यह शब्द यावज्जीवन संथारे को हा द्योतित करता है। इसे ग्रहण करने की विधि भी जो आज से ढाई हजार वर्ष पहले थी वही आज भी है।

साधक सर्वप्रथम किसी एकान्त-शांत स्थान की गवेषणा करता है। तदुपरान्त उस प्रासुक और निर्जन्तु स्थान पर दर्भ का बिछौना बिछाता है। उस पर पूर्वाभिमुख होकर अवस्थित होता है और फिर शरीर आदि से ममत्व तोड़ता है,

पापस्थानों का त्याग करता है, भांड-उपकरणों के प्रति आसक्ति का त्याग करके भक्त-प्रत्याख्यान-अनशन, संथारे की प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेता है।

संथारे के लाभ

साधक (मानव) के लिए संथारा सदैव ही लाभप्रद होता है, हानि तो इससे कभी होती ही नहीं। आत्मा के लिए संथारा उस रसायन के समान है जो रोग होता है तो शरीर के उस रोग को मिटाता है और यदि रोग नहीं होता तो शरीर को बलवान, वीर्ययुक्त और स्फूर्तिमय बनाता है। संथारा भी उसी प्रकार आत्मशक्ति, आत्मजाग्रति और आत्मवीर्य को वृद्धिंगत करता है।

यह सत्य है कि संथारा में अनशन अवश्य होता है लेकिन वह भूखा रहकर मृत्यु की ओर गतिशील होना नहीं है अपितु कर्मनिर्जरा द्वारा आत्मशुद्धि की एक सक्षम प्रक्रिया है।

जहाँ तक क्षुधा-पिपासा वेदना का प्रश्न है, इसके लिए योग की एक पद्धति समझ लेनी चाहिए। योग ग्रन्थों में वर्णित एक अनुभूत सत्य है कि कंठ कूप में ध्यान करने से क्षुधा वेदना नहीं सताती। उसी प्रकार संथारा का साधक जब अहर्निश ध्यान साधना करता है तब ध्यान की लगातार तीव्र धारा से उसकी क्षुधा-पिपासा स्वयमेव ही शांत हो जाती है, शरीर व्याधियों की उसे अनुभूति ही नहीं होती और यदि होती भी है तो इतनी अल्प मात्रा में कि उसे विचलित नहीं कर पाती।

संक्षेप में संथारा शांति और समाधिपूर्वक इस नश्वर शरीर का त्याग है। जिस प्रकार सर्प को अपनी कैचुली उतारने में अथवा मानव को अपने जीर्ण-शीर्ण फटे-पुराने वस्त्रों को उतारने में कष्ट नहीं होता अपितु सुख की अनुभूति ही होती है। उसी प्रकार संथारा की साधना से साधक को आनन्द की प्राप्ति होती है।

● ●

अध्याय ६

प्रतिमा योग

भिक्षु (मुनि) की प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अभिप्राय

प्रतिमा शब्द यहाँ किसी अनुकृति, आकृति अथवा आकार विशेष की ओर इंगित नहीं करता, जैसाकि साधारणतः समझा जाता है, अपितु प्रस्तुत सन्दर्भ में यह एक विशिष्ट अभिप्राय लिए हुए है और साधना से सम्बन्धित है।

स्थानांग वृत्ति पत्र ६१ में कहा गया है–

प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेति यावत्

तथा

प्रतिमा–प्रतिज्ञा अभिग्रह : (स्थानांगवृत्ति पत्र १८४)

इन उपर्युक्त कथनों का आशय यह है कि प्रतिमा–एक विशेष प्रतिज्ञा है, व्रत विशेष है और दृढ़ संकल्प सहित (with firm resolution) एक साधना पद्धति है।

प्रतिमा है तो एक प्रकार का व्रत विशेष ही; किन्तु इसमें दृढ़ता का स्थान प्रमुख है।

साधक जब अपने स्वीकृत व्रत, नियमों, तपस्याओं में परिपक्व हो जाता है; अतिचार और स्खलनारहित व्रतों तथा तपस्याओं का पालन करने में पूर्णतः परिपक्व हो जाता है तब वह साधना के पथ पर अपने दृढ़ कदम आगे बढ़ाता है। दृढ़ संकल्पपूर्वक कुछ विशिष्ट साधनाएँ–तप आदि स्वीकार करता है, ये विशिष्ट साधनाएँ ही प्रतिमा कहलाती हैं और इन्हीं को समुच्चय रूप से प्रतिमा योग कहा जाता है।

प्रतिमाओं को धारण करने वाले साधक का संकल्प बहुत ही दृढ़ और मनोबल उच्चकोटि का होता है। वह भयंकरतम स्थिति और अति विपरीत परिस्थिति में भी विचलित नहीं होता। घोर कष्टप्रद उपसर्ग-परीषह में भी इसके

शरीर का एक रोम भी कम्पित नहीं होता। वह अचल पर्वत के समान अपनी साधना में अडिग रहता है।

भिक्षु (मुनि) प्रतिमाएँ[1]

श्रमण (भिक्षु) विशिष्ट साधना के लिए दृढ़ संकल्पपूर्वक नियम और अभिग्रह ग्रहण करता है। इसमें वह आहार, शरीर, मन, वाणी, आसन आदि का नियमन करके मन-वचन-काय योग को वश में करता है और दृढ़तापूर्वक प्रतिमाओं की साधना में प्रवृत्त होता है।

भिक्षु प्रतिमाओं की संख्या

भिक्षु (श्रमण मुनि) की प्रतिमाएँ संख्या में १२ हैं जिनकी वह साधना क्रमशः करता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रथम प्रतिमा की सफलतापूर्वक आराधना करने के उपरान्त उससे अगली–दूसरी प्रतिमा की आराधना की ही जाय। यह तो साधक की शक्ति और दृढ़ता पर ही निर्भर है कि वह आगे की प्रतिमाओं की आराधना करे।

यद्यपि साधारणतः प्रतिमाओं की साधना एक के बाद दूसरी इस क्रम से की जाती हैं, किन्तु कुछ अत्यन्त दृढ़ मनोबली साधक प्रारम्भ की प्रतिमाओं को छोड़कर सीधी ही बारहवीं भिक्षु प्रतिमा की आराधना करते हैं। जैसाकि मुनि गजसुकुमाल ने किया। गजसुकुमाल मुनि का विस्तृत वर्णन अन्तकृद्दशा सूत्र में है।

भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ७ में मिलता है। इसी के अनुसार यहाँ क्रमपूर्वक १२ भिक्षु प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रतिमाधारी श्रमण की प्रवृत्तियाँ

प्रतिमाधारी श्रमण अपने शरीर के प्रति बहुत ही निरपेक्ष हो जाता है। जिस धर्म स्थानक, उपाश्रय अथवा स्थान में ठहरा हो, यदि वहाँ किसी प्रकार से अग्नि, जल, असामाजिक तत्त्वों का उपद्रव हो जाय तो भी उस स्थान को नहीं छोड़ता।

वायु प्रकोप से यदि उसकी आँख में रजकण, तिनका आदि पड़ जाय तो उसकी पीड़ा सह लेता है किन्तु अपने हाथ से उसे नहीं निकालता। इस प्रकार

---

१. भिक्षु के समान गृहस्थ साधक भी प्रतिमाओं का दृढ़तापूर्वक आराधन करता है। उसकी प्रतिमाएँ श्रावक प्रतिमाएँ कहलाती हैं। शास्त्रों में ११ श्रावक प्रतिमाओं का वर्णन मिलता है। किन्तु यहाँ श्रमण साधकों का प्रसंग होने से श्रावक प्रतिमाओं का विवेचन नहीं किया गया है।

गमन करते समय पैर में काँटा, काँच का टुकड़ा आदि चुभ जाय तो भी नहीं निकालता। कंकरीला मार्ग आ जाय तो उसे छोड़कर सुखद मार्ग पर जाने की इच्छा भी नहीं करता।

यदि सामने बाघ, सिंह आदि हिंसक पशु सामने से आ जाये तो वहीं खड़ा रह जाता है, एक कदम भी पीछे नहीं हटता और यदि गाय आदि आ जाये तो दयालुतावश पीछे हटकर मार्ग दे देता है।

इसी प्रकार कीड़ी नगरा (चींटियों का बिल और समूह) मार्ग में आ जाय और वह उसे उलांघ न सके तो जीव हिंसा से बचने के लिए वहीं खड़ा रह जाता है।

वह सचित्त भूमि पर न बैठता है, न गमन करता है और न खड़ा होता है।

शीत निवारण के लिए वह धूप में खड़े होने की तथा ग्रीष्म ऋतु में छाया में जाने की इच्छा भी नहीं करता। धूप अथवा छाया—जहाँ भी हो, वहीं अवस्थित रहता है।

जहाँ भी सूर्यास्त अथवा दिन का चौथा प्रहर समाप्त हो जाय, वह रात्रि भर के लिए अवस्थित हो चाहे वह स्थान नगर का मध्य भाग हो, राजमार्ग हो, ग्राम की सीमा हो, घोर जंगल हो अथवा वृक्ष का मूल हो। वह सिंह आदि हिंसक वन्य पशुओं की गर्जनाओं की तथा शीतकालीन बर्फीली बयारों की भी चिन्ता नहीं करता।

मनुष्यों, देवों और पशु-पक्षियों द्वारा किये गये उपसर्गों तथा परीषहों को समभाव से सहन करता है।

वह वाणी का भी पूर्ण संयम पालन करता है। सिर्फ चार कारणों से बोलता है—(१) अन्य साथी श्रमण से वस्त्र पात्र आदि माँगना (२) शंका समाधान के लिए गुरुदेव अथवा ज्येष्ठ ज्ञानी साधु से प्रश्न पूछना अथवा किसी सामान्य व्यक्ति से मार्ग पूछना (३) गुरुदेव से गोचरी आदि की आज्ञा लेना अथवा शय्यातर (स्थान के स्वामी) से स्थान की आज्ञा लेना (४) किसी व्यक्ति द्वारा किये गये जिज्ञासा वृत्ति से धार्मिक प्रश्न का उत्तर देना। इन चार कारणों के अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं बोलता, सर्वथा मौन धारण किये रहता है।

वह एक ग्राम में दो (२) रात्रि और एक दिवस से अधिक नहीं ठहरता।

भोजन की गवेषणा में भी वह कुछ कठोर नियमों का पालन करता है।

जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो, वहाँ से न लेना; गर्भिणी अथवा शिशु की माता के लिए बनाये गये भोजन में से न लेना, शिशु को स्तनपान कराती हुई स्त्री यदि उठकर आहार दे तो न लेना, आसन्न-प्रसवा स्त्री से भोजन न

लेना; जिसके दोनों पैर देहली के बाहर या भीतर हों, उसके हाथों से आहार न लेना; परिचित कुल से आहार न लेना, अपरिचित कुल से आहार लेना आदि भोजन सम्बन्धी उसके नियम होते हैं।

वह दिन में एक ही बार विशिष्ट और कठोर नियमों के साथ भिक्षा के लिए जाता है।

१. प्रथम प्रतिमा

उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए श्रमण पहली प्रतिमा की आराधना करता है। इसका काल एक मास है। इसमें श्रमण एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की ग्रहण करता है। दत्ती का अभिप्राय है दाता द्वारा दिये जाने वाले भोजन और पानी की अखंडधारा।

२. दूसरी प्रतिमा

इस दूसरी प्रतिमा का कालमान दो मास है। उपर्युक्त सभी नियमों का पालन करते हुए इसकी आराधना की जाती है। इसमें साधक दो दत्ती आहार की और दो दत्ती पानी की ग्रहण करता है।

३. तीसरी प्रतिमा

इसका समय तीन मास है और साधक तीन दत्ती आहार की तथा तीन दत्ती पानी की ग्रहण करता है। साथ ही उपर्युक्त सभी नियमों का पालन करता है।

४. चौथी प्रतिमा

इसका कालमान चार मास का है। साधक चार दत्ती आहार की और चार दत्ती पानी की ग्रहण करता है। उपर्युक्त नियमों का पालन इसमें भी होता है।

५. पाँचवीं प्रतिमा

पाँच मास की अवधि वाली पाँचवीं प्रतिमा में साधक पाँच दत्ती आहार की और पाँच दत्ती पानी की ग्रहण करने के साथ-साथ उपर्युक्त नियमों का भी पालन करता है।

६-७ छठी-सातवीं प्रतिमा

छठी प्रतिमा का कालमान छः मास है और सातवीं का सात मास। इनमें क्रमशः छ–छः तथा सात-सात दत्तियाँ आहार तथा पानी ग्रहण की जाती है।

८. आठवीं प्रतिमा

इस आठवीं प्रतिमा का समय एक सप्ताह सात दिन है।

इस प्रतिमा का साधक एक दिन-रात्रि का निर्जल उपवास (चौविहार) करके ग्राम अथवा नगर की सीमा के बाहर जाकर प्रासुक भूमि पर उत्तानासन, पार्श्वासन अथवा निषद्यासन से कायोत्सर्ग में लीन हो जाता है।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो तो पहल से प्रतिलेखित-प्रमार्जित भूमि पर मल-मूत्र त्यागकर पुनः अपने स्थान पर आकर कायोत्सर्ग में लीन हो जाता है।

इस प्रकार सात दिन तक इस प्रतिमा की आराधना करता है।

९. नौवीं प्रतिमा

यह नौवीं प्रतिमा भी सात दिन-रात की है। इसकी आराधना भी आठवीं प्रतिमा के समान ही की जाती है। विशेष यह है कि साधक दण्डासन, लकुटासन अथवा उत्कटुकासन से जिनाज्ञानुसार ध्यान एवं कायोत्सर्ग में लीन रहता है।

१०. दसवीं प्रतिमा

इस दसवीं प्रतिमा का समय भी सात दिन-रात का है। आराधना विधि भी नौवीं प्रतिमा के समान है। विशेष यह है कि साधक गोदोहिकासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान साधना में लीन रहता है।

११. ग्यारहवीं प्रतिमा

इस प्रतिमा का कालमान एक अहोरात्रि (प्रथम दिन के सूर्योदय से दूसरे दिन के सूर्योदय तक) है।

इस प्रतिमा की आराधना करने वाला साधक दो दिन का निर्जल उपवास (चौविहार)—बेला करके प्रतिमा की आराधना करता है।

ग्राम, नगर अथवा राजधानी की सीमा से बाहर जाकर प्रासुक भूमि में दोनों पैरों को संकुचित कर और दोनों भुजाओं को जानु पर्यन्त लम्बी करके साधक ध्यान साधना—कायोत्सर्ग करता है।

१२. बारहवीं प्रतिमा

बारहवीं प्रतिमा का समय केवल एक रात्रि प्रमाण है। किन्तु आराधना अति कठिन है।

इसकी आराधना निर्जल तेला (अष्टम भक्त) की तपस्या से की जाती है। साधक ग्राम, नगर आदि के बाह्य भाग में जाकर प्रासुक भूमि में अवस्थित होता है। कोई-कोई दृढ़ मनोबली साधक श्मशान में भी चला जाता है; जैसे गजसुकुमाल मुनि।

वहाँ अवस्थित होकर दोनों पैरों को संकुचित करता है, भुजाओं को जंघापर्यन्त लम्बी करता है, इस मुद्रा में खड़ा होता है। फिर शरीर को थोड़ा आगे झुकाकर एक पुद्‌गल पर दृष्टि जमा देता है, निर्निमेष दृष्टि से अपलक देखता हुआ समस्त इन्द्रियों और मन को ध्येय में लीन करके एकाग्रचित्त से ध्यान-साधना में तल्लीन हो जाता है।

इस प्रकार साधना करते हुए संपूर्ण रात्रि व्यतीत करता है।

यदि इस प्रतिमा का पालन जिनेश्वर की आज्ञा के अनुरूप सही ढंग से न हो सके, साधक उपसर्ग–परीषह से विचलित हो जाय तो उसे तीन अनर्थकारी दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं–

१. मानसिक उन्माद, पागलपन, विक्षिप्तता।

२. अति दीर्घकालीन रोग और आतंक।

३. केवली प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाना।

और इस प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले को तीन विशेष फल प्राप्त होते हैं–

१. अवधिज्ञान की प्राप्ति।

२. मनःपर्यव ज्ञान की प्राप्ति।

३. केवलज्ञान का प्रगट होना।

इस प्रकार ये बारह भिक्षु प्रतिमाएँ साधक-जीवन की विशुद्धि के कारण और उसके दृढ़ मनोबल तथा संकल्प शक्ति की परिचायक हैं।

इन प्रतिमाओं की आराधना गौतमकुमार मुनि ने की थी।

अन्य प्रतिमाएँ

उपर्युक्त बारह प्रतिमाओं का उल्लेख दशाश्रुतस्कन्ध में प्राप्त होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य प्रतिमाओं का वर्णन अन्तकृद्दशा सूत्र में प्राप्त होता है; जिनकी आराधना सुकृष्णा आदि श्रमणियों ने की थी। ये प्रतिमाएँ भी भिक्षु प्रतिमाएँ कहलाती हैं किन्तु इनकी आराधना विधि में अन्तर है।

१. सप्त-सप्तमिका प्रतिमा

इस प्रतिमा का आराधना समय सात सप्ताह अथवा ४९ दिन है।

आराधना विधि–इस प्रतिमा में प्रथम सप्ताह में प्रतिदिन एक दत्ती भोजन की और एक दत्ती पानी की ली जाती है। दूसरे सप्ताह में दो-दो दत्ती, तीसरे में तीन दत्ती। इसी प्रकार प्रति सप्ताह एक-एक दत्ती बढ़ाते हुए सातवें सप्ताह में प्रतिदिन आहार-पानी की सात-सात दत्तियाँ ली जाती हैं।

आहार और पानी की दत्तियों की सम्मिलित रूप से गणना करने पर इस सप्त-सप्तमिका प्रतिमा में ग्रहण की हुई आहार-पानी की कुल संख्या १९६ होती है।

२. अष्ट-अष्टमिका प्रतिमा

जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है कि आठ-आठवीं प्रतिमा की आराधना ८ × ८ = ६४ दिनों में होती है।

इसमें प्रथम ८ दिन तक प्रतिदिन २ दत्ती आहार की तथा १ दत्ती पानी की ली जाती है। अगले आठ दिनों में प्रतिदिन २ दत्तियाँ आहार की तथा ८ दत्तियाँ पानी की। इसी प्रकार क्रमशः प्रत्येक ८ दिनों में दत्तियों की संख्या एक-एक बढ़ाते हुए अन्तिम ८ दिनों आठ-आठ दत्तियाँ आहार और पानी की ली जाती हैं।

इस प्रतिमा में आहार और पानी की सम्मिलित रूप से दत्तियों की संख्या २८८ होती है।

३. नव-नवमिका प्रतिमा

इसकी आराधना में ९ × ९ = ८१ दिन लगते हैं। पहले ९ दिनों में एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की प्रतिदिन ली जाती है। फिर प्रत्येक ९ दिनों में आहार और पानी की एक-एक दत्ती बढ़ाते हुए अन्तिम ९ दिनों में ९-९ दत्तियाँ आहार और पानी की ग्रहण की जाती हैं।

आहार-पानी की सम्मिलित रूप से कुल दत्ती संख्या ४०५ होती है।

४. दश-दशमिका प्रतिमा

इसको पूर्ण करने में १० × १० = १०० दिन लगते हैं।

प्रथम दस दिनों में प्रतिदिन एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की। फिर क्रमशः प्रत्येक दस दिन में एक-एक दत्ती आहार-पानी की बढ़ाते हुए अन्तिम दस दिनों में दस-दस दत्तियाँ आहार और पानी की ली जाती हैं।

इस प्रतिमा में आहार-पानी की सम्मिलित रूप से कुल ५५०दत्तियाँ होती हैं।

इन चारों प्रतिमाओं की आराधना आर्या सुकृष्णा ने की थी।

५. लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा

सर्वतोभद्र का अभिप्राय है–चारों ओर से समान। इस प्रतिमा में उपवास तपों को यंत्र में अंकों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इस यंत्र में एक से पाँच तक के अंक रखे जाते हैं; क्योंकि इस लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा का आराधक एक उपवास से पाँच उपवास तक की ही तपस्या करता है।

यंत्र में स्थापित अंकों की यह विशेषता होती है कि ऊपर, नीचे, आड़े, तिरछे किसी भी पद्धति से अंकों को जोड़ा जाय, योगफल सदा ही समान होगा। इसमें एक से पाँच तक के अंक स्थापित होने से योगफल १५ होता है। इसी कारण इसे लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा कहा जाता है।

आराधना विधि–उपवास–पारणा, बेला (दो दिवसीय उपवास–पारणा तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, उपवास–पारणा, बेला–पारणा; पचोला–पारणा, उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा;बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, उपवास–पारणा;चोला–पारणा, पचोला–पारणा, उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा।

यह प्रस्तुत प्रतिमा की एक परिपाटी हुई और इसमें तीन माह और दस दिन लगे।

इसी प्रकार की कुल चार परिपाटियाँ होती हैं। उनको पूर्ण करने मे १ वर्ष १ माह १० दिन लगते हैं। इनमें १०० दिन पारणे के और ३०० दिन तपस्या के होते हैं।

पारणे में जो आहार लिया जाता है उसके सम्बन्ध में यह नियम है कि प्रथम परिपाटी में विगय सहित (सर्व कामगुण युक्त) आहार, दूसरी परिपाटी में विगयरहित, तीसरी परिपाटी में लेप रहित आहार और चौथी परिपाटी में आयंबिल तप किया जाता है।

(नोट–लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा का यह १ से ५ तक के अंकों का यंत्र, शांति यंत्र के नाम से भी सुविख्यात है। इस यंत्र के अंकों के अनुसार नवकार मंत्र के पाँच पदों का जाप करने से व्यक्ति को सुख-समृद्धि भी प्राप्त होती है।

इस प्रकार के २४ यंत्रों की शृंखला सर्वतोभद्र आनुपूर्वी के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस लघु सर्वतोभद्र यंत्र का विविध रूप से जैन संसार में काफी सम्मान है।

६. महत्सर्वतोभद्र प्रतिमा

पूर्व वर्णित लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा और प्रस्तुत महत्सर्वतोभद्र प्रतिमा में अन्तर इतना है कि लघुसर्वतोभद्र में उपवास से लेकर पचोला तक की तपस्या की जाती है जबकि इसमें उपवास से लेकर सात उपवास तक की।

दूसरा अन्तर यह है कि लघु सर्वतोभद्र के यंत्र में स्थापित अंकों का योगफल १५ होता है; जबकि इसके अंकों का योगफल २८ होता है।

प्रस्तुत महत्सर्वतोभद्र प्रतिमा के यंत्र में ७ × ७ = ४९ कोष्ठक होते हैं और लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा के यंत्र में ५ × ५ = २५ कोष्ठक।

समानता यह है कि अंकों को ऊपर से, नीचे से, आड़े, तिरछे किसी भी प्रकार से जोड़ने–योग करने से योगफल सदा ही समान रहता है।

आराधना विधि–प्रस्तुत महत्सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना विधि इस प्रकार है–

उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा।

यह प्रथम लता कहलाती है।

चोला–पारणा, पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा।

यह दूसरी लता है।

सात उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा।

यह तीसरी लता है।

तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, बेला–पारणा।

यह चौथी लता है।

छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा।

यह पाँचवीं लता है।

बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा, पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा।

यह छठी लता है।

पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, बेला–पारणा, तेला–पारणा, चोला–पारणा।

यह सातवीं लता है।

इन सातों लताओं की एक परिपाटी होती है जिसमें कुल २४५ दिन लगते हैं। इनमें १९६ दिन तपस्या के हैं और ४९ दिन पारणे की।

ऐसी ही चार परिपाटियाँ करने से इस प्रतिमा की आराधना पूर्ण होती है, जिसमें कुल ९८० दिन लगते हैं। इनमें ७८४ दिन तपस्या के और १९६ दिन पारणे के हैं।

पहली परिपाटी में पारणे के दिन विगय सहित आहार लिया जाता है, दूसरी परिपाटी में विगय रहित, तीसरी परिपाटी में लेप रहित और चौथी परिपाटी में पारणे के दिन आयंबिल तप किया जाता है।

इस विधि से इस महत्सर्वतोभद्र (महासर्वतोभद्र) प्रतिमा की आराधना विधि-विधान सहित पूर्ण की जाती है।

इस प्रतिमा की आराधना आर्या वीरकृष्णा ने की थी।

७. भद्रोत्तर प्रतिमा

भद्रोत्तर, दो शब्दों से मिलकर बना है–भद्र और उत्तर। भद्र का अर्थ है–कल्याणकारी, कल्याण को देने वाला, कल्याण करने वाला और उत्तर का अभिप्राय यहाँ प्रधान अथवा मुख्य है। अतः भद्रोत्तर का अर्थ प्रधान अथवा सर्वोच्च कल्याणप्रद होता है। इस निर्वचन के अनुसार भद्रोत्तर प्रतिमा, साधक के लिए सर्वोच्च कल्याणप्रद है।

इस प्रतिमा की आराधना पाँच दिन की तपस्या से प्रारम्भ होकर नौ दिन तक तपस्या तक चलती है।

इसी कारण इसके स्थापना यंत्र में ५ से ९ तक के अंक स्थापित किये जाते हैं। इस यंत्र में ५ × ५ = २५ कोष्ठक होते हैं तथा इन अंकों का योगफल ३५ होता है।

णमोकार मंत्र में भी ३५ अक्षर हैं और वह भी सभी प्रकार के तथा सर्वोच्च कल्याणप्रद्र हैं। इन दोनों में कितना अद्भुत साम्य है।

आराधना विधि–प्रस्तुत भद्रोत्तर प्रतिमा की आराधना विधि इस प्रकार है–

पचोला–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, आठ उपवास (अठाई)–पारणा, नौ उपवास–पारणा।

यह पहली लता है।

सात उपवास–पारणा, आठ उपवास–पारणा, नौ उपवास–पारणा, पाँच उपवास–पारणा, छह उपवास–पारणा।

यह दूसरी लता है।

नौ उपवास–पारणा, पाँच उपवास–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, आठ उपवास–पारणा।

यह तीसरी लता हुई।

छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा, आठ उपवास–पारणा, नौ उपवास–पारणा, पांच उपवास–पारणा।

यह चौथी लता है।

आठ उपवास–पारणा, नौ उपवास–पारणा, पाँच उपवास–पारणा, छह उपवास–पारणा, सात उपवास–पारणा।

यह पाँचवीं लता है।

इन पाँचों लताओं की एक परिपाटी होती है इसे पूर्ण करने में २०० दिन लगते हैं जिनमें १७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारणे के हैं।

प्रतिमा की सम्पूर्ण आराधना के लिए ऐसी ही चार परिपाटियाँ की जाती हैं जिनमें कुल ८०० दिन लगते हैं। इनमें से ७०० दिन तपस्या के और १०० दिन पारणे के होते हैं।

पहली परिपाटी में पारणे में लिया जाने वाला भोजन विगय सहित (सर्वकामगुणयुक्त) होता है। दूसरी परिपाटी में लिया जाने वाला भोजन विगय रहित और तीसरी परिपाटी में लेप रहित होता है। चौथी परिपाटी में पारणे के दिन आयंबिल तप किया जाता है।

इस प्रकार विधि-विधान सहित भद्रोत्तर प्रतिमा (तप) की आराधना सम्पूर्ण होती है।

इस प्रतिमा की आराधना आर्या रामकृष्णा ने की थी।

उपसंहार

दशाश्रुतस्कन्ध गत १२ भिक्षु प्रतिमाओं, अन्तकृद्दशा में वर्णित ७ भिक्षु प्रतिमाओं के अनुशीलन-परिशीलन और इन दोनों ग्रन्थों में वर्णित प्रतिमाओं की साधना पद्धति पर चिन्तन करने से यह तथ्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ अलग-अलग थीं, इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था।

दोनों ग्रन्थों में वर्णित प्रतिमाओं पर गहराई से चिन्तन-मनन करने से एक अवधारणा यह भी समुत्पन्न होती है कि संभवतः आगम काल में और भी विशिष्ट एवं सामान्य साधनाएँ प्रचलित रही हैं। अन्य प्रकार की प्रतिमाएँ भी प्रचलित रही हैं। जिनकी आराधना करके साधक सुगति के अधिकारी बनते रहे हैं।

किन्तु काल दोष से वे साधना-पद्धतियाँ विलुप्त हो गईं। स्पष्ट साक्ष्य के अभाव में कुछ निश्चित रूप से कहना असम्भव है। जो प्राप्त है, उसी से सन्तोष करना पड़ता है।

● ●

अध्याय ७

निदान

'निदान' शब्द का आशय

'निदान' एक बहु आयामी और व्यापक अर्थ वाला शब्द है। भिन्न-भिन्न संदर्भों में इसके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ–वैद्यक शास्त्र में 'निदान' का अर्थ है–रोग के कारणों का निर्णय करना। इसे अंग्रेजी भाषा में diagnosis कहा जाता है।

साधारण भाषा में इस शब्द से दुःख या खेद प्रगट किया जाता है। जैसे–निदान, वह परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सका।

कोष आदि में 'निदान' शब्द पवित्रता (purity), शुद्धिकरण (purification) आदि के लिए प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन की गाथा ५३ में नियाणखमा प्रयुक्त हुआ है।

जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द

किन्तु अधिकांशतः 'निदान' शब्द जैन धर्मशास्त्रों में पारिभाषिक (technical) शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है और इसका विशिष्ट अर्थ है भावी जीवन में किसी विशिष्ट लक्ष्य, उद्देश्य, पद आदि की प्राप्ति, किसी से बदला लेने की इच्छा, काम-भोग भोगने की अभिलाषा आदि का दृढ़ संकल्प।

लेकिन मात्र अभिलाषा, इच्छा या कामना ही निदान का रूप नहीं ले लेती, ऐसी इच्छाएँ तो शेखचिल्ली की कल्पनाएँ (fool's fancy or paradise) बनकर ही रह जाती हैं।

निदान एक दृढ़ संकल्प (firm volition) है। अपने मन-अभिलषित की प्राप्ति के लिए तपस्या को दाव पर लगाना पड़ता है। तपस्वी, श्रमण या श्रमणी इन शब्दों द्वारा निदान करता है–

"यदि मेरी तपस्या, साधना, ब्रह्मचर्यपालन अथवा व्रत-नियमों का कुछ भी फल हो तो मेरी अमुक अभिलाषा पूर्ण हो।"

इसे तपस्या को बेचना अथवा क्षार करना भी, साधारण भाषा में कहा जाता है।

निदान को तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में आर्तध्यान का चौथा भेद कहा है।

निदान के कारण : राग-द्वेष दोनों ही

यह तथ्य है कि निदान की उत्पत्ति मोहनीय कर्म के कारण ही होती है। मोहनीयकर्म रागरूप भी है और द्वेषरूप भी। द्वेष से तपस्वी अपने किसी शत्रु, उत्पीड़क आदि के नाश का निदान करता है और राग के प्रभाव से काम-भोगों की अभिलाषा करता है। लेकिन इसका उत्तेजक निमित्त कोई ऋद्धि-समृद्धि रूप-ऐश्वर्य सम्पन्न स्त्री-पुरुष, राजा-रानी आदि होते हैं। देवलोक का ऐश्वर्य और देव-देवियों के दिव्य काम-भोगों का वर्णन भी व्यक्ति को निदान के लिए उत्तेजित कर देता है।

साथ ही कुछ ईर्ष्या का भाव भी होता है कि जैसे यह पुण्यवान पुरुष उत्कृष्ट मानुषिक तथा देवदिव्य भोगों को भोग रहा है, वैसे ही भोग मैं भी भोगूँ।

निदान के प्रकार और फल

भगवान महावीर ने दशाश्रुतस्कन्ध, दसवीं दशा में निदान के नौ प्रकार अथवा भेद बताये हैं। इनका सार रूप से संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पूर्व भूमिका

भगवान महावीर का समवसरण राजगृह नगर के बाह्य गुणशीलक उद्यान में लगा हुआ था। जन परिषद के साथ राजा श्रेणिक तथा रानी चेलना भी भगवान के दर्शन और देशना श्रवण के लिए पूरे साज-शृंगार के साथ आये। उनके अति सुन्दर रूप, बहुमूल्य वस्त्रालंकार राज्य समृद्धि आदि से प्रभावित होकर भगवान के कुछ श्रमण-श्रमणियों ने मन ही मन निदान कर लिया कि अपनी तपस्या के फलस्वरूप आगामी जन्म में हम भी ऐसे ही मनुष्य संबंधी भोग भोगें। सर्वज्ञ भगवान से उनका यह निदान छिप न सका।

भगवान के दर्शन-वन्दन और देशना श्रवण करने के पश्चात् परिषद तथा राजा श्रेणिक और रानी चेलेना भी चली गई।

तब भगवान ने निदान और उसका दुष्फल श्रमण-श्रमणियों को समझाया।

निदान के नौ भेद हैं।

पहला निदान

एक निर्ग्रन्थ (श्रमण), जो तप-साधना, व्रत-नियम का यथोचित पालन करता है, वह किसी समृद्धिशाली उच्च वंशीय राजा अथवा राजकुमार को तथा उसकी

ऋद्धि-समृद्धि आदि को देखता है, तब वह कामभोगों के प्रति आकर्षित होकर निदान करता है–मेरे तप नियम ब्रह्मचर्य पालन का फल हो तो मैं भी इस राजा अथवा राजकुमार के समान आगामी जन्म में मनुष्य-सम्बन्धी उत्तम सुख भोगूँ।

ऐसा व्यक्ति यदि आलोचना–इस निदान की आलोचना किये बिना ही शरीर-त्याग करता है तो (तप तथा श्रमण पर्याय का पालन करने के फलस्वरूप) वह देवलोक में देव बनता है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके उच्च कुल में जन्म लेता है। उसे मनुष्य संबंधी सुख भोग के साधन प्राप्त होते हैं। वह उन सुखों को भोगता है।

यद्यपि उसे साधु, माता-पिता आदि सर्वज्ञ प्रणीत धर्म सुनाते हैं, लेकिन वह रुचिपूर्वक नहीं सुनता। दुर्लभ बोधि हो जाता है और कामभोगों में लिप्त रहकर आयु पूर्ण होने पर नरक गति को जाता है। वहाँ के घोर दुःखों से चिरकाल तक पीड़ित होता है।

यह निदान का ही फल विपाक है।

दूसरा निदान

कोई निर्ग्रन्थी (श्रमणी), जो तप-संयम, ब्रह्मचर्य और ध्यान-साधना सर्वज्ञ प्रणीत धर्म के अनुसार करती है।

वह किसी ऐसी स्त्री को देखती है जो बहुमूल्य रत्नाभूषणों से सुसज्जित है, मनुष्य सम्बन्धी उत्तम भोग सामग्री उसे उपलब्ध है, अत्यन्त सुन्दरी है, अपने पति की एकमात्र प्राणप्रिया है।

उसे देखकर वह श्रमणी निदान करती है–यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम, ब्रह्मचर्यपालन का फल हो तो मैं भी आगामी जन्म में इस स्त्री के समान मनुष्य संबंधी उत्तम काम-भोगों को भोगूँ।

वह श्रमणी यदि इस निदान की आलोचना किये बिना ही देह त्याग करती है तो (आचरित तपस्या के प्रभाव से) देवगति में उत्पन्न होती है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके उच्च कुल में जन्म लेती है जहाँ उसे काम-भोगों के उत्तम साधन उपलब्ध होते हैं। उन सुखों को भोगती है।

यद्यपि श्रमण आदि उसे धर्म सुनाते हैं; लेकिन वह इच्छापूर्वक नहीं सुनती। वह दुर्लभ बोधि होती है। कामभोगों में लिप्त रहकर, वह महा आरम्भ, महा परिग्रह वाली बनकर आयु पूर्ण करके नरक को जाती है और वहाँ की घोर पीड़ा को सुदीर्घकाल तक भोगती है।

यह उस निदान शल्य का विपाक परिणाम है, कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म को सुनती भी नहीं।

तीसरा निदान

कोई निर्ग्रन्थ (श्रमण), जो तप, संयम, ब्रह्मचर्य-पालन, ध्यान-साधना में सर्वज्ञ प्रणीत धर्म श्रमणधर्म की अनुपालना करता है।

वह किसी अत्यन्त सुन्दरी उच्च कुलीन स्त्री को देखता है कि वह पति की प्राणप्रिया है तथा मनुष्य-संबंधी उत्तमोत्तम भोगों को भोग रही है।

तब वह निर्ग्रन्थ श्रमण मन में सोचता है–पुरुष का जन्म तो दुखों से भरा है। युद्ध में उसे अपने वक्षस्थल पर शत्रुओं के बाण, भाले, तलवार आदि के प्रहार झेलने पड़ते हैं और भी अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

लेकिन स्त्री का जन्म सुखमय है, वह अपने भवन–महल में रहकर, दास-दासियों पर हुकम चलाती है और स्वयं सुखमय जीवन व्यतीत करती है। उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

और फिर वह श्रमण निदान (दृढ़ संकल्प) करता है–यदि मेरे इस तपश्चरण का फल हो तो मैं आगामी जन्म में उच्चकुल वाली स्त्री बनूँ और मनुष्य संबंधी उत्तमोत्तम सुख भोगूँ।

यदि वह श्रमण इस निदान की आलोचना, प्रतिक्रमण किये बिना ही कालधर्म प्राप्त करता है तो (आचरित तपस्या के प्रभाव से) देवगति प्राप्त करता है और वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके मनुष्य लोक में उच्चकुलीन स्त्री रूप में जन्म ग्रहण करके उत्तमोत्तम भोगों को भोगता है।

उसे धर्माचार्य, श्रमण आदि केवली प्ररूपित धर्म सुनाते हैं किन्तु वह रुचिपूर्वक नहीं सुनती, सुनी-अनसुनी कर देती है।

वह स्त्री आयु पूर्ण कर नरक में उत्पन्न होती है और दारुण दुखों को भोगती है।

यह निदान का कटुफल है।

चौथा निदान

कोई निर्ग्रन्थी (श्रमणी) केवली प्रज्ञप्त धर्म को ही सत्य, तथ्य, आत्म-कल्याणकारी मानकर तदनुसार तप-संयम-ब्रह्मचर्य पालन की आराधना करती है।

वह किसी उच्चकुलीन (विशुद्ध मातृ-पितृ वाले उग्रवंशी या भोगवंशी) सुन्दर, स्वरूपवान, ऐश्वर्यशाली पुरुष को देखती है।

वह मन में सोचती है–स्त्री का जीवन दुःखमय है क्योंकि वह स्वतंत्र रूप से अकेली एक गाँव से दूसरे गाँव तक भी नहीं जा सकती।

क्योंकि जिस प्रकार आम, बिजोरा, इक्षु खण्ड आदि मनुष्यों को प्रिय और आस्वादनीय, इच्छनीय लगते हैं; इसी प्रकार स्त्री का शरीर भी पुरुषों को आस्वादनीय, प्राप्त करने योग्य, इच्छित और अभिलषित होता है।

इस कारण स्त्री का जीवन दुखमय और पुरुष का जीवन सुखमय है।

तब वह निदान करती है—यदि मेरे द्वारा आचरित तप का फल हो तो मैं आगामी जन्म में उच्चकुलीन पुरुष बनकर मनुष्य संबंधी उत्तमोत्तम सुखों का भोग करूँ।

इस निदान की आलोचना-प्रतिक्रमण न करके यदि वह श्रमणी देह-त्याग करती है तो देवगति को प्राप्त करती है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर उच्चकुल में पुरुष रूप में उत्पन्न होती है और उत्तमोत्तम मनुष्य संबंधी भोग उसे प्राप्त होते हैं। धर्माचार्य आदि इसे (कृतनिदान) पुरुष को सर्वज्ञ प्रणीत धर्म सुनाते हैं; पर वह उसे सुना-अनसुना कर देता है।

वह दुर्लभ बोधि होता है। आयु पुर्ण कर नरक में उत्पन्न होता है और दारुण दुख भोगने को विवश होता है।

यह निदान का कटुफल है।

पाँचवाँ निदान

कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (श्रमण या श्रमणी) केवली प्ररूपित धर्म के अनुसार तप-संयम-ब्रह्मचर्य आदि की आराधना करता है।

गुरुमुख से सुनकर अथवा शास्त्रों में पढ़कर देवों के सुख के प्रति आकर्षित होता है।

तब वह मन में सोचता है—यह मनुष्य शरीर तो मल-मूत्र, श्लेष्म आदि से दुर्गन्धित है। देवों का शरीर इन मलों से रहित होने के कारण स्वच्छ और सुगन्धित है। साथ ही देव विभिन्न रूप विकुर्वित कर अपनी और अन्य देवियों के साथ मनमानी क्रीड़ा करते हैं। चिरकाल तक भाँति-भाँति के सुख भोगते हैं। उनका आयुष्य भी दीर्घ होता है।

तब वह निदान करता है—मेरी तपस्या का फल हो तो मैं देव सम्बन्धी दिव्य भोग भोगूँ।

वह यदि अपने निदान की आलोचना-प्रतिक्रमण करके शुद्ध न हों और देह-त्याग करें तो देवगति प्राप्त करके देव बनते हैं। वहाँ के सुख भोगते हैं। आयु पूर्ण होने पर उच्चकुलीन मानव बनते हैं। यहाँ भी सुख भोगते हैं।

लेकिन वे दुर्लभ बोधि होते हैं। केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा-प्रतीति नहीं करते और दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

यह निदान का दुष्फल है।

छठा निदान

केवलि-प्रज्ञप्त धर्म के अनुसार तप-संयम-ब्रह्मचर्य की परिपालना करता हुआ कोई श्रमण-श्रमणी, काम-भोगों से उद्दीप्त होकर, यह सोचता है कि ऊपर देवलोक है, वहाँ देवगण मनमानी अनंग क्रीड़ाएँ करते हैं।

ऐसा सोचकर कोई श्रमण-श्रमणी निदान करता है–मैं देव रूप में उत्पन्न होकर अपनी एवं अन्य देवियों के साथ दिव्य भोग भोगूँ।

इस निदान की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही मृत्यु पाकर वह देव बनता है, स्वयं के विकुर्वित देव-देवियों और अपनी देवियों के साथ दिव्य सुख भोगता है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर उच्चकुलीन मानव बनकर सुख भोगता है।

वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म को सुनता है, समझता है; किन्तु उस पर श्रद्धा-प्रतीति नहीं करता। वह अन्य धर्मों, धर्माचार्यों में रुचि रखता है।

आयु पूर्ण कर वह किसी असुर स्थान में किल्विषिक देव बनता है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर भेड़-बकरे के समान गूँगे-बहरे के रूप में जन्म धारण करता है।

यह विपाक का कटु परिणाम है।

सातवाँ निदान

केवलिप्रज्ञप्त धर्म के अनुसार कोई श्रमण-श्रमणी तप-संयम-ब्रह्मचर्य की आराधना करता है। वह दिव्य काम-भोगों का निदान करता है कि मेरे तप-संयम का फल हो तो मैं दिव्य सुख भोगूँ।

निदान की आलोचना किये बिना वह देह-त्याग करके देवलोक में उत्पन्न होता है। स्वयं के विकुर्वित देव-देवियों के साथ अनंग क्रीड़ा करता है, अन्य देव-देवियों के साथ नहीं करता।

देवायु समाप्त होने पर वह उच्चकुल में जन्म लेता है, उत्तम सुख भोगता है, सर्वज्ञ प्रणीत धर्म पर श्रद्धा रखता है, लेकिन श्रावक व्रत ग्रहण नहीं कर सकता। वह सिर्फ दर्शन-श्रावक रहता है।

मनुष्यायु समाप्त होने पर वह किसी देवलोक में देव बनता है।

आठवाँ निदान

कोई श्रमण-श्रमणी केवलिप्रज्ञप्त धर्म के अनुसार तप-सयंम की आराधना करता है।

उसे मनुष्य संबंधी काम-भोगों से अरुचि हो जाती है। वह विचार करता है– मनुष्य संबंधी काम-भोग निस्सार हैं, क्षणिक हैं, त्याज्य हैं। दिव्य काम-भोग भी संसार बढ़ाने वाले हैं।

इस प्रकार की विरक्ति हृदय में धारण कर वह निदान करता है– यदि मेरी तपस्या का फल हो तो आगामी जीवन में विशुद्ध मातृ-पितृ पक्षीय उच्च कुल में जन्म लेकर श्रमणोपासक बनूँ, जीवाजीव विभक्ति का ज्ञान प्राप्त करूँ, पुण्य-पाप को पहचानूँ और श्रमण-श्रमणी को प्रासुक एषणीय भक्त-पान आदि दूँ।

इस निदान की आलोचना किये बिना देह त्यागकर वह उच्च देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होता है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके उच्चकुलीन मानव बनता है। सर्वज्ञ प्रणीत धर्म सुनकर उस पर श्रद्धा करता है, श्रावक व्रतों का पालन करता है; अनशन-प्रत्याख्यान आदि भी करता है; किन्तु सकल संयम-श्रमण धर्म का पालन नहीं कर सकता।

आयु पूर्ण करके वह किसी देवलोक में देव बनता है।

सकल संयम-श्रमणत्व पालन करने की असमर्थता, इस निदान का फल है।

नौवाँ निदान

कोई श्रमण-श्रमणी केवलि-प्रज्ञप्त धर्म के अनुसार तप-संयम की यथावत् आराधना करता हुआ मनुष्य संबंधी काम-भोगों से विरक्त हो जाता है, इन्हें निस्सार मानने लगता है।

तब वह इस प्रकार का निदान करता है–मेरे तप का फल हो तो मैं ऐसे अन्त-प्रान्त-तुच्छ-भिक्षु कुल में जन्म लूँ, जहाँ लोगों में पारस्परिक मोह कम होता है। अतः मैं प्रव्रजित होने के लिए सुविधापूर्वक गृहस्थ जीवन का त्याग कर सकूँ। इस निदान की आलोचना किये बिना देह-त्याग कर वह देव बनता है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर ऐसे ही कुलों में जन्म लेता है। वह केवली प्ररूपित धर्म सुनता है, श्रद्धा करता है, श्रावक व्रतों का पालन करता है और श्रमण दीक्षा ग्रहण करके तप भी करता है; किन्तु मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता; किसी देवलोक में ही उत्पन्न होता है।

मुक्ति-प्राप्ति में बाधक बनना–यह इस निदान का विपाक फल है।

उपर्युक्त कथित इन नौ प्रकार के निदानों का मूल कारण राग है। प्रारम्भ के ६ निदानों में कामभोग की अभिलाषा है–काम राग है तो अन्तिम तीन निदानों में धर्म का राग है।

लेकिन निदान केवल रागवश ही नहीं होता; द्वेष के वशीभूत होकर भी व्यक्ति निदान करता है।

द्वेष-वश निदान

द्वेष वश निदान किसी आततायी अथवा उत्पीड़क के प्रति होता है।

जब कोई शक्तिशाली व्यक्ति किसी निर्बल की कोई अतिप्रिय वस्तु बलपूर्वक छीन लेता है, उसे प्रताड़ित करता है, निर्दयतापूर्वक मारता-पीटता है तब वह शक्तिहीन व्यक्ति इस शक्तिशाली को मारने अथवा विनाश करने का निदान कर लेता है और आगामी जीवन में उसका विनाश भी कर डालता है।

सभी वासुदेव इसी प्रकार के शत्रुभाव का निदान करते हैं।

शास्त्रों में द्वेष-निदान के काफी उदाहरण मिलते हैं। यथा–यादव कुमारों ने जब द्वैपायन तपस्वी को बहुत मारा-पीटा, मरणासन्न कर दिया तो उसने द्वारका विनाश का निदान कर लिया। अग्निकुमार देव बनकर अग्निवर्षा करके उसने समृद्ध नगरी द्वारका को भस्म कर डाला।

ज्ञातव्य तथ्य

निदान करने वाले के लिए तपस्वी होना अनिवार्य है; चाहे वह बाल तप ही क्यों न हो। क्योंकि तप के फलस्वरूप ही उसे वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि उसकी अभिलाषा पूर्ण हो सके।

उत्तराध्ययन सूत्र के चित्त-संभूतीय अध्ययन में सम्भूत मुनि चक्रवर्ती के भोगों की प्राप्ति का निदान करते हैं और अपनी उग्र तपस्या के फलस्वरूप ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बनते हैं।

सामान्यतः मनुष्य-संबंधी भोगों का निदान करने वाला जीव, इच्छित भोगों को भोगकर अन्त में नरक जाता है; जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नरकगामी हुआ।

लेकिन द्रौपदी ने भी पूर्वभव में मनुष्य संबंधी भोगों का निदान किया, पाँच पांडवों के साथ उसका विवाह हुआ। लेकिन स्वयंवर मंडप में ही आकाशचारी श्रमण ने उसके पिछले भव सुनाये तो उसे सद्बुद्धि आई, निदान का प्रायश्चित्त किया और अन्त में स्वर्ग प्राप्त किया।

निदान दृढ़ संकल्प है; अपनी तपस्या के फलस्वरूप अभिलाषा पूरी करना है।

लेकिन सामान्यतः सभी मानव अपनी उन्नति की, धन-शक्ति-पद-प्रतिष्ठा पाने की इच्छा करते हैं, योजनाएँ बनाते हैं, उचित दिशा में यथाशक्ति परिश्रम भी करते हैं, बुद्धि, कुशलता, चतुराई आदि का भरपूर प्रयोग भी करते हैं और भाग्य संयोग से अपनी महत्वाकांक्षा पूरी कर भी लेते हैं; लेकिन यह निदान नहीं है; क्योंकि निदान तो तपस्या को बेचना है। यह स्थिति यहाँ नहीं है। यहाँ तो केवल महत्वाकांक्षा है।

निदान, एक प्रकार से स्वयं को सीमा में, परकोटे में आबद्ध कर लेना है। जैसे–श्रमणोपासक बनने के निदान वाला जीव अनगार नहीं बन सकता और जिसने अनगार बनने का निदान किया है, वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष पृष्ठ २०९४ में निदान शब्द का अर्थ बताया गया है–

जिस प्रकार परशु (फरसा) से लता का छेदन किया जाता है, उसी प्रकार दिव्य एवं मानुषिक कामभोगों की कामनाओं से आनन्द रस तथा मोक्षरूप रत्नत्रय की लता का छेदन किया जाता है।

निष्कर्ष

संक्षेप में तथ्य यह है कि कामभोग तथा शत्रुता रूप निदान तो त्याज्य है और गर्हित है ही; किन्तु धर्मानुरागवश किया गया निदान भी अनुचित है, आत्मा की शुद्धि और मुक्ति में बाधक है।

अतः किसी भी प्रकार का निदान न करना ही श्रेयष्कर है।

● ●

अध्याय ८

अन्तकृद्दशा सूत्र में वर्णित प्रसिद्ध नगर/उद्यान आदि

प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र में प्रसंगानुसार कई नगरों, उद्यानों, वनखंडों, वृक्षों, चैत्यों आदि का नामोल्लेख सहित वर्णन हुआ। किन्तु वह वर्णन वहां संक्षिप्त है। उसकी (उन सभी की) विशेषताएँ स्पष्ट और विशद रूप से वर्णित नहीं हुई है। अधिक जानने की इच्छा वाले पाठकों की जिज्ञासा अतृप्त रह जाती हैं। उनको तृप्त करने के लिए यहाँ अन्तकृद्दशा सूत्र में उल्लिखित/संकेतित नगर, चैत्य, वनखंड आदि का वर्णन किया जा रहा है।

चम्पा नगरी

प्रस्तुत सूत्र में सर्वप्रथम चम्पा नगरी का नाम आया है। आर्य सुधर्मा स्वामी इसी नगरी के बाह्य भाग में अवस्थित पूर्णभद्र चैत्य में आर्य जम्बू स्वामी को अष्टम अंग (अन्तकृद्दशा सूत्र) की वाचना देते हैं।

चम्पा नगरी पहले अंग देश की राजधानी थी। यह नगरी बहुत ही समृद्ध थी। वैभवशाली और सुरक्षित थी। यहाँ की आबादी घनी थी, विशाल जनसमूह निवास करता था। आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन थे। चोर, बटमार आदि का अभाव था, अतः जन-जीवन शांतिमय था।

यह नगरी स्वचक्र और परचक्र के भय से मुक्त थी। गोपुर, नगर के प्रवेश द्वार सुदृढ़ कपाटों से युक्त थे। अतः शत्रु और विरोधी राजाओं का नगर में प्रवेश करना लगभग असंभव था।

राज-शासन व्यवस्था सुचारु थी। अतः वहाँ की जनता शासकीय कर्मचारियों के भय से मुक्त थी। सभी अपने धन और प्राणों की सुरक्षा के विषय में आश्वस्त थे।

नगरी के चारों ओर की भूमि उर्वरा थी। सभी प्रकार के धान्य और अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते थे। खेत फसलों से लहलहाते रहते थे।

संक्षेप में चम्पानगरी सभी प्रकार से वैभवशाली, समृद्ध और सम्पन्न थी।

राजा श्रेणिक की दुखद मृत्यु के उपरान्त मगधेश्वर कोणिक ने इसी नगरी को अपनी राजधानी बनाया और इस प्रकार यह मगध के विशाल साम्राज्य की राजधानी बन गई।

चम्पा की अवस्थिति–स्थानांग सूत्र में प्रसिद्ध और समृद्ध दस नगरियों में चम्पा का भी नामोल्लेख प्राप्त होता है।

किन्तु आधुनिक विचारकों की जिज्ञासा है कि ऐसी समृद्ध नगरी कहाँ अवस्थित थी?

चीनी यात्री फाह्यान ने चम्पा को पाटलिपुत्र (पटना) से १८ योजन पूर्व दिशा में गंगा के दक्षिणी तट पर स्थित बताया है।

मुनि कल्याणविजय जी का विचार है कि यह चम्पा पटना से पूर्व दिशा–कुछ दक्षिण की ओर लगभग १०० कोस पर थी। आजकल इसका नाम चम्पानाला है तथा यह भागलपुर से ३ मील दूर पश्चिम में है।

कनिंघम ने कहा है–भागलपुर से ठीक २४ मील पर पत्थर घाट है। इसके पास ही पश्चिम दिशा की ओर चंपानगर नाम का एक बड़ा गाँव है और एक छोटा गाँव है जिसे चंपापुर कहा जाता है।

उपर्युक्त विद्धानों के विचारों से यह निष्कर्ष निकाला जाना सहज संभव है कि उपरोक्त दोनों गाँव प्राचीनकालीन की समृद्ध चम्पानगरी के द्योतक अवशेष हैं और चम्पानगरी यहीं अवस्थित थी।

पूर्णभद्र चैत्य

यह चैत्य चम्पानगरी के बाहर ईशान कोण (उत्तर-पूर्व दिशा का मध्य-भाग) में अवस्थित था। इसमें पूर्णभद्र नाम के यक्ष की प्रतिमा थी। यह यक्षायतन था। यक्ष के नाम पर ही यह पूर्णभद्र चैत्य कहलाता था।

यक्षायतन की दीवारें चित्रों से अलंकृत थीं। यह काफी पुराना था। नगरवासी इसकी प्रशंसा करते थे। यह अपने प्रभाव से विख्यात था। न्यायशील था–लौकिक श्रद्धावाले नागरिक वहाँ आकर न्याय प्राप्त करते थे। वह छत्र-पताका आदि से युक्त था। उसकी दीवारें गोरोचन तथा चन्दन की हथेलियों की छाप से युक्त थीं। मंगल-कलश रखे थे, ताजे पुष्पों के ढेर लगे रहते थे, अगर-कपूर आदि की सुगन्ध से महकता रहता था।

लोग उसका सम्मान, पूजा आदि करते और विभिन्न प्रकार की भेंटें चढ़ाते थे।

इन सबके कारण वह बहुत रमणीय प्रतीत होता था।

चैत्य शब्द का स्पष्टीकरण–चैत्य शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे ज्ञान (तिक्खुत्तो सूत्र में चेइयं शब्द), भगवान, माननीय मानव, गुणग्राही, वृक्षमूल, समाधि-स्थल, देव इत्यादि।

अधिकांशतः चैत्य शब्द को चिता से संबंधित माना जाता है। प्राचीन काल में परम्परा थी कि विशिष्ट पुरुष का जहाँ अग्नि संस्कार किया जाता था, वहाँ उसकी स्मृति स्वरूप एक वृक्ष आरोपित कर दिया जाता था, वह चैत्यवृक्ष कहलाता था।

फिर समाधि स्थल बनने लगे। साँची का सारनाथ स्तूप इसका प्रमाण है। समाधि-स्थलों की परम्परा अब भी चल रही है।

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में चैत्य शब्द का अर्थ देव (यक्ष) अधिक संगत प्रतीत होता है और चैत्यायतन का अर्थ लौकिक देवता का मन्दिर। शास्त्रों में अनेक स्थानों पर चैत्यायतनों का वर्णन मिलता है, जहाँ तपस्वी ध्यान साधना करते थे। भगवान महावीर ने भी अनेक चैत्यों में साधना की थी।

प्रस्तुत प्रसंग में पूर्णभद्र चैत्य का महत्व यह है कि यहाँ गणधर सुधर्मा ने आर्य जम्बू को आठवें अंग की वाचना दी थी।

वनखंड

पूर्णभद्र चैत्य के चारों ओर सघन वन खण्ड था। उसमें विभिन्न प्रकार के फल- फूल और पत्तियों वाले छायादार वृक्ष थे। वृक्षावली इतनी सघन थी कि देखने पर काली, नीली, हरी छाया ही दृष्टिगत होती थी।

स्पष्टीकरण–वनखण्ड को आधुनिक भाषा में उद्यान अथवा पार्क (park) समझना अधिक उपयुक्त होगा। जिस प्रकार आधुनिक पार्कों में मनुष्यों के चलने के लिए मार्ग होते हैं, उसी प्रकार उस वनखण्ड में अचित्त मार्ग होना चाहिए, क्योंकि साधुजन सचित्त भूमि पर पैर नहीं रखते। अतः उस वनखण्ड में अचित्त मार्ग अवश्य होंगे, चाहे वे लोगों के आने-जाने से बने हों, अथवा रथों और बैलगाड़ियों द्वारा। उन्हीं पथों पर चलकर सुधर्मा स्वामी और आर्य जम्बू पूर्णभद्र चैत्य तक पहुँच सकते हैं।

अशोक वृक्ष

उस वनखण्ड के बीचोंबीच–ठीक मध्य भाग में अशोक वृक्ष था। वह अनेक प्रकार के फल-फूलों और पत्तियों से सुशोभित था। उसकी सुगन्ध दूर तक फैली हुई थी। उसके चारों ओर अन्य विविध प्रकार के पुष्प-पादप थे।

शिलापट्टक

उस अशोक वृक्ष के नीचे एक शिलापट्टक था। वह लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई में प्रमाणोपेत (उचित प्रमाण वाला) और चिकना था। वह अष्टकोण आकार वाला था और उसका स्पर्श कोमल था।

इस प्रकार वह दर्शनीय और वर्णनीय था।

द्वारका नगरी

इस नगरी का विस्तृत वर्णन अन्तकृद्दशा सूत्र में किया जा चुका है।

इसका निर्माण वासुदेव श्रीकृष्ण के लिए वैश्रमण देव ने किया था। यह सभी प्रकार से समृद्ध, संपन्न, वैभवशाली थी। इसकी रचना अति सुन्दर और परकोटे बहुत सुदृढ़ थे। यह पश्चिमी समुद्र तट पर बसी हुई थी। यह उत्तर-दक्षिण में बारह योजन लम्बी और पूर्व-पश्चिम में ९ योजन चौड़ी थी। तथा वैश्रमण देव ने समुद्र से भूमि लेकर इसका निर्माण किया था।

'द्वार' शब्द गुजराती भाषा में बन्दरगाह (port) को भी कहते हैं। इस अर्थ में द्वारका बन्दरगाहों की नगरी थी।

इन बन्दरगाहों से पश्चिमी अरब और मध्य एशिया के देशों से अबाध समुद्री व्यापार भी द्वारका की समृद्धि का एक कारण माना जा सकता है। कृष्ण कथा के अनुसार कुछ व्यापारी समुद्र मार्ग से रत्नकंबल लेकर द्वारका आये भी थे जो बाद में स्थलमार्ग से राजगृह पहुँचे थे।

यही कारण था कि द्वारका के सभी नागरिक समृद्ध थे, निर्धन-भाग्यहीन कोई न था।

वर्तमान में, सौराष्ट्र प्रान्त में द्वारका नाम का एक कस्बा है। उससे २० मील दूर कच्छ की खाड़ी में एक टापू (भूमि का वह उठा हुआ भाग, जिसके चारों ओर जल हो) है। वहाँ एक दूसरी द्वारका है, जो बेंट द्वारका कहलाती है। यहाँ भी कृष्ण, रुक्मिणी आदि के मन्दिर हैं। श्रद्धालु भक्त वहाँ भी दर्शनार्थ जाते हैं।

आधुनिक सागर-गर्भ वेत्ताओं ने पुरानी द्वारका की समुद्र गर्भ के इसी (सौराष्ट्र-द्वारका और बेंट द्वारका के मध्यवर्ती) क्षेत्र में खोज की तो उन्हें पुरानी द्वारका के ध्वंसावशेष—महल, कंगूरे आदि प्राप्त हुए हैं। अब वे समुद्र-तल से द्वारका के अवशेषों को निकालने के लिए प्रयत्नशील हैं।

जैन ग्रन्थों के अनुसार द्वारका के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था और वह समुद्र तट पर बसी हुई थी।

उपर्युक्त तथ्यों का अनुशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि द्वारका नगरी के तीन ओर समुद्र था। जैसी स्थिति आज बम्बई महानगर की है, लगभग वैसी स्थिति द्वारका नगरी की रही होगी।

ऐसी समृद्ध नगरी के विध्वंस के विषय में जैन मान्यता है कि वह अग्नि प्रकोप से ध्वस्त हुई और वैदिक मान्यता के अनुसार सागर में डूब गई।

कुछ लेखकों ने इन दोनों का समन्वय करते हुए कहा है-द्वारका पहले अग्नि की भेंट चढ़ी, ध्वस्त हुई और फिर सागर में समा गई।

आधुनिक प्रमाणों के अनुसार यह मत समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि द्वारका के ध्वंसावशेष सागर में मिलते हैं। अधिकांश द्वारका डूब गई, उसका कुछ भाग टापू के रूप में शेष रह गया जिसे आज बेंट द्वारका कहा जाता है।

साथ ही जैन अंग आगमों ज्ञाताधर्मकथा तथा अन्तकृद्दशा में द्वारका की अवस्थिति जो सौराष्ट्र में बताई गई है, यह तथ्य भी पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है।

रैवतक पर्वत

रैवतक पर्वत आज भी सौराष्ट्र में विद्यमान है। गिरनार पर्वत के नाम से यह आज अधिक विख्यात है। शास्त्रों एवं पुराणों में इसके उज्जयंत, उज्ज्वल, गिरिणाल आदि नाम भी मिलते हैं। प्राचीन समय में इसी की तलहटी में द्वारका नगरी बसी हुई थी। आज जूनागढ़ नगर बसा हुआ है।

प्राचीन काल में इस पर्वत पर नन्दन वन था और इस वन में सुरप्रिय चैत्य था। जहाँ भगवान ठहरते थे।

नन्दन वन और सुरप्रिय चैत्य का वर्णन पूर्णभद्र चैत्य के लगभग समान है।

काकन्दी नगरी

भगवान महावीर के समय में काकंदी नगरी बहुत समृद्ध थी। इसकी उस समय अवस्थिति उत्तर भारत में थी। उस समय यहाँ राजा जितशत्रु राज्य करते थे। नगर के बाहर एक सहस्राम्र वन था।

इसी नगरी की भद्रा सार्थवाही के पुत्र धन्य आदि अनेक साधकों ने भगवान महावीर के चरणों में दीक्षा ग्रहण थी।

वर्तमान में इसकी अवस्थिति विवादित और अनिश्चित है। मुनि श्री कल्याण विजयजी लछुआड से पूर्व में जो काकन्दी तीर्थ है, उसे प्राचीन काकन्दी नगरी नहीं मानते अपितु उनकी धारणा है कि दिगम्बर जैनों का किष्किंधा तीर्थ ही प्राचीन काकन्दी नगरी होना चाहिए।

लेकिन इस नगरी की अवस्थिति के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस समय के अनेक नगर विनष्ट हो गये हैं। काकन्दी की भी यही स्थिति है।

पोलासपुर

अन्तकृद्दशांग में पोलासपुर नगर का उल्लेख हुआ है। नगर में श्रीवन नाम का उद्यान था। वहाँ राजा विजय राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम श्रीदेवी था। राजकुमार अतिमुक्तक ने बालवय में भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की और मुक्ति प्राप्त की।

भद्दिलपुर

भद्दिलपुर उस समय एक समृद्ध नगरी थी। यह तत्कालीन मलय देश की राजधानी थी और इसकी गणना अतिशय क्षेत्रों में की जाती थी।

अन्तकृद्दशा में उल्लिखित भद्दिलपुर नगरी का महत्वपूर्ण स्थान है। हरिणगमैषी देव देवकी के जीवित पुत्रों को भद्दिलपुर निवासी नाग गाथापति की पत्नी सुलसा को दे देता है और सुलसा के मृतपुत्रों को देवकी के पार्श्व में रख देता है। इस तरह वह ६ शिशुओं की अदला-बदली करता है।

यह नगरी कहाँ अवस्थित थी, इस विषय में विभिन्न विचारकों के भिन्न मत हैं। मुनि कल्याणविजय जी का मत है कि आधुनिक पटना से दक्षिण में १०० मील दूर और गया से नैऋत्य कोण में २८ मील दूर, गया जिले में हररिया और दन्तारा गाँव हैं। उनके पास भद्दिलपुर नगरी थी।

डा. जगदीश चन्द्र जैन हजारीगाँव जिले में भदिया नामक गाँव को प्राचीन भद्दिलपुर मानते हैं।

इन दोनों विद्वानों की मान्यताओं का आधार यह है कि भगवान महावीर ने एक चातुर्मास भद्दिलपुर में किया था।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या भगवान अरिष्टनेमि के युग में भी यही भद्दिलपुर नगरी थी जो भगवान महावीर के युग में थी; क्योंकि दोनों तीर्थंकरों के मध्यवर्ती काल में समय का बहुत लम्बा अन्तर रहा है। भगवान अरिष्टनेमि एक लाख वर्ष पहले हुए हैं और भगवान महावीर २५०० वर्ष पहले।

अन्तकृद्दशा में भगवान अरिष्टनेमि के युग के भद्दिलपुर नगर का उल्लेख आया है।

इन सब बातों का विचार करके भद्दिलपुर नगर की अवस्थिति निर्धारित की जानी चाहिए।

राजगृह

राजगृह अति प्राचीन काल से ही समृद्ध और प्रसिद्ध नगरी रही है।

इसकी प्राचीनता के जैन शास्त्रों में कई प्रमाण मिलते हैं। बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत का जन्म यहीं हुआ था। इन्हीं के शासनकाल में रामायण की घटना हुई थी। महाभारत काल में प्रतिवासुदेव जरासन्ध की भी राजधानी राजगृह ही थी। भगवान महावीर के युग में राजा प्रसेनजित और सम्राट श्रेणिक की राजनगरी का गौरव इसे प्राप्त था।

राजगृह नगर विशाल मगध साम्राज्य की राजधानी थी। मगध का साम्राज्य शक्ति, संपन्नता, समृद्धि और जनसंख्या तथा सैन्यबल आदि की दृष्टि से प्राचीन काल से ही वैभवपूर्ण रहा है।

विश्व-विजय का आकांक्षी यूनानी सम्राट सिकन्दर ने जब मगध की विशाल वाहिनी के विषय में सुना तो भारतविजय की आशा छोड़कर पंचनद (पंजाब) से ही वापिस लौट गया।

राजगृह नगर के अन्य नाम भी हैं, यथा–मगधपुर, क्षितिप्रतिष्ठित नगर, चणकपुर, ऋषभपुर, कुशाग्रपुर आदि।

इनमें से कुशाग्रपुर और राजगृह अधिक प्रसिद्ध रहे हैं।

कुशाग्रपुर में बार-बार अग्नि प्रकोप हो जाता था, अतः सम्राट श्रेणिक के पिता नरेश प्रसेनजित ने कुशाग्रपुर से २ कोस दूर इस नगर को अपनी राजधानी बनाया।

राजगृह नगर पंच पहाड़ियों से सुरक्षित है अतः इसे गिरिव्रज भी कहा गया है।

यह नगर आज भी मौजूद है और राजगिर के नाम से प्रसिद्ध है। जैनधर्मानुयियों का श्रद्धा केन्द्र है।

यहाँ भगवान महावीर ने बीस वर्षावास किये। मगधेश श्रेणिक, उनका पुत्र अभयकुमार, कोणिक, चेलना आदि रानियाँ भगवान की परम भक्त थीं।

तथागत गौतम बुद्ध ने भी यहाँ विचरण किया था।

यद्यपि प्राचीन राजगृह नगर का वैभव अब नहीं रहा; फिर भी धार्मिक दृष्टि से इसका अब भी महत्वपूर्ण स्थान है।

● ●

अध्याय ९

अन्तकृद्दशा में संकेतित/सन्दर्भित प्रसिद्ध व्यक्तित्व

अन्तकृद्दशा सूत्र में अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है। जो साधक भगवान अरिष्टनेमि और भगवान महावीर के युग में अन्तकृत् हुए, जिन्होंने उत्कृष्ट साधना द्वारा उसी भव में भवान्त करके-जन्म-मरणरूपी संसार का अन्त करके सिद्धि प्राप्त की, उनका तो लगभग पूर्ण वर्णन किया गया है लेकिन कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के विषय में सिर्फ संकेत ही किया गया है यथा–**जहा दढपइन्ने** -दृढ़ प्रतिज्ञ के समान, **जहा मेहे -मेघकुमार के समान।**

इनके अतिरिक्त सुधर्मा स्वामी, जंबू स्वामी का उल्लेख अनेक स्थलों पर है, गणधर गौतम का भी नाम आया है, श्रेणिक और कोणिक आदि का नाम भी। लेकिन सिर्फ नामोल्लेख ही है, उनका परिचय (जीवन-परिचय) नहीं दिया गया है।

इस अध्याय में हम अन्तकृद्दशा सूत्र में संदर्भित/संकेतित कुछ विशिष्ट, महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास कर रहे हैं।

१. गौतम गणधर (इन्द्रभूति)

इन्द्रभूति गौतम, भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य और प्रथम गणधर थे।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

मगध की राजधानी राजगृह के समीप ही गोबर नाम का एक ग्राम था। वहाँ गौतमगोत्रीय ब्राह्मण वसुभूति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम पृथ्वी था। वसुभूति के तीन पुत्र थे–(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति और (३) वायुभूति। ये तीनों ही चारों वेद, वेदांगों, चौदह विद्याओं में निष्णात और प्रसिद्ध याज्ञिक थे।

इन तीनों भाइयों में इन्द्रभूति ज्येष्ठ (सबसे बड़े भाई) थे। ये अनेक विषय के धुरन्धर ज्ञाता और यज्ञ कराने में अत्यधिक निपुण थे। इनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। ख्याति के कारण इन्हें अपने ऊपर कुछ अभिमान भी था। कर्मकांडी ब्राह्मण के रूप में ये विख्यात थे। साथ ही अपने समाज में सम्पन्न और अग्रगण्य थे।

अपापा नगरी के सम्पन्न सोमिल ब्राह्मण ने यज्ञ करने का विचार किया। उसने अनेक विद्वान ब्राह्मण बुलवाये तथा इन्द्रभूति गौतम को भी बुलवाया तथा यज्ञाचार्य के पद पर इन्हें अधिष्ठित किया। यज्ञ प्रारम्भ हो गया।

उसी समय अपापा नगरी के बाह्य भाग में देवों ने तीर्थंकर भगवान महावीर के समवसरण की रचना की। भगवान के समवसरण में सम्मिलित होने के लिए अनेक देव अपने विमानों मे बैठकर आकाश-मार्ग से आने लगे।

उन विमानों को देखकर याज्ञिकगण बहुत प्रसन्न हुए। वे समझे कि—ये देवगण हमारे यज्ञ से आकर्षित होकर आ रहे हैं। लेकिन जब देवविमान आगे निकल गये तो सभी बहुत निराश हुए।

इन्द्रभूति गौतम को अपने ज्ञान का दंभ तो था ही। अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ चल दिये शास्त्रार्थ द्वारा भगवान को पराजित करने।

संपूर्ण ज्ञान कभी भी किसी छद्मस्थ को नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषों के मन में भी कोई न कोई शंका रह ही जाती है जिसे वे कभी प्रगट नहीं करते।

गौतम के मन में भी एक शंका थी—आत्मा है या नहीं ?

भगवान ने उनके बिना पूछे ही वह शंका प्रगट कर दी और साथ ही समाधान भी कर दिया।

इन्द्रभूति गौतम भगवान की सर्वज्ञता के समक्ष विनत हो गये और उनका शिष्यत्व ग्रहण करके श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली। साथ ही उनके ५००शिष्य भी श्रमण बन गये।

भगवान ने त्रिपदी[1] का ज्ञान दिया तो उनके ज्ञान-नेत्र खुल गये। उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और प्रभु के प्रथम गणधर कहलाये।

इन्द्रभूति गौतम प्रबल जिज्ञासु थे। उन्होंने भगवान से अनेक प्रश्न किये और उनका समाधान पाया। भगवती जैसा विशाल आगम इस बात का साक्षी है।

वे घोर तपस्वी थे, बेले-बेले पारणा करते थे। उनके लिए **घोर तवे, गुत्ते, गुत्तिन्दिये, गुत्त बंभयारी** आदि विशेषण जैन सूत्रों में मिलते हैं। उन्हें अक्खीण महानस आदि अनेक लब्धियाँ प्राप्त थीं। वे अपनी तेजोलेश्या को गुप्त रखते थे, कभी प्रगट नहीं होने देते थे।

---

१. उप्पन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा—पदार्थ उत्पन्न होता है, व्यय होता है तथा ध्रुव (मूल तत्व रूप में पर्याय रूप में रहता है।

उन्होंने अपनी आत्मा का उपकार तो किया ही, धर्म का प्रसार करके लोकोपकार भी बहुत किया। अनेक भव्य पुरुषों को धर्म-साधना की ओर उन्मुख किया। उनके निमित्त से अनेक भव्य मानव केवली बनकर मुक्त हुए।

भगवान महावीर के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा-भक्ति और अनुराग था। यह अनुराग ही उनकी कैवल्य-प्राप्ति में बाधक हो रहा था। जिस रात्रि को भगवान मोक्ष पधारे उसी रात्रि को उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

गणधर गौतम ने ५० वर्ष की आयु में भगवान महावीर से श्रमण दीक्षा ली, ३०वर्ष तक छद्मस्थ रहे, और १२वर्ष तक केवली पर्याय का पालन कर ९२वर्ष की आयु में मुक्त हो गये।

जैन संसार में वे अपने गोत्र गौतम नाम से अधिक प्रसिद्ध है। जैनाचार्यों ने गौतम शब्द का अनेक प्रकार से निर्वचन करके कई अर्थ बताए हैं; उदाहरणार्थ– गो (बुद्धि), तम (अन्धकार) जिसकी बुध्दि अथवा ज्ञान का अन्धकार समाप्त हो गया है।

अक्खीण महानस लब्धि की अपेक्षा से श्रध्दालुओं की मान्यता है कि गौतम स्वामी के प्रभाव और उनका नाम स्मरण करने से भंडार कभी खाली नहीं होता।

इस प्रकार की और भी मान्यताएँ हैं।

इन सबका सार-संक्षेप यह है कि गौतम स्वामी और उनके नाम के प्रति जैन संसार में बहुत श्रध्दा है।

यह सब गौतम स्वामी की विशिष्टता का द्योतक है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में अनेक स्थानों पर गौतम गणधर का उल्लेख हुआ है। साधकों की भिक्षाचर्या के वर्णन में '**जहा गोयम सामी**' शब्दों का बार-बार उल्लेख आया। उदाहरणार्थ–तीसरे वर्ग के आठवें अध्ययन में जब छह सहोदर भाई अणगार (सुलसा गाथापत्नी द्वारा पालित, देवकी के पुत्र) भिक्षार्थ द्वारका नगरी में जाने को प्रस्तुत होते हैं तो वहाँ उल्लेख है–**जहा गोयम सामी**–गौतम स्वामी के समान।

इन शब्दों से यह ध्वनित होता है कि जैन संसार में गौतम स्वामी की भिक्षाचर्या आदर्श मानी गई है।

गौतम स्वामी की भिक्षाचर्या विशिष्ट थी अथवा उन्होंने जैन श्रमणों के लिए भिक्षाचर्या का एक आदर्श स्थापित किया था।

उनकी भिक्षाचर्या की विधि इस प्रकार थी–जिस दिन उन्हें पारणा करना होता था उस दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते, दूसरे प्रहर में ध्यान करते, तीसरे

प्रहर में मानसिक और कायिक चंचलता से रहित होकर मुख वस्त्रिका, वस्त्रों तथा भाजन (पात्रों) की प्रतिलेखना करते–झोली में रखते; फिर भगवान महावीर के पास आते और उन्हें वन्दना नमस्कार करके भिक्षार्थ जाने की आज्ञा माँगते।

भगवान की आज्ञा पाकर वे नगरी में जाते। उच्च-नीच-मध्यम कुलों में भिक्षा की गवेषणा करते। प्रासुक, शुध्द, एषणीय भिक्षा लाते, वह भिक्षा भगवान महावीर को दिखाते और फिर जिस तरह बिल में सर्प प्रवेश करता है, उसी तरह उस आहार-पानी को अस्वाद वृत्ति से उदरस्थ कर लेते।

भिक्षा लाने और उदरस्थ करने की यह विधि जैन संसार में साधु भिक्षाचर्या और भोजन चर्या–एषणा समिति की आधारभूत बन गई।आज तक भी यह परम्परा प्रचलित है। अब भी साधु अपने धर्मगुरु, आचार्य अथवा ज्येष्ठ साधुओं को दिखाकर और उनकी आज्ञा पाकर ही लाये हुए आहार-पानी का उपयोग/उपभोग करते हैं।

छठे वर्ग के अतिमुक्तकुमार नामक अध्ययन में गौतम स्वामी का विस्तृत उल्लेख हुआ है। भिक्षाचर्या के साथ उनके सहानुभूति, सरलता, बाल मनोविज्ञानज्ञाता आदि अनेक गुण उजागर हुए हैं।

अपने अनेक गुणों, दिव्य लब्धियों, आध्यात्मिक सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्ति, अक्षय-निधि प्रदाता आदि के कारण गौतम गणधर जैन संसार के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं।

२. सुधर्मा स्वामी

श्री सुधर्मा स्वामी भगवान महावीर के पंचम गणधर हैं जबकि गौतम स्वामी प्रथम गणधर थे।

प्रत्येक साधक गणधर नहीं बन सकता; क्योंकि गणधर एक लब्धि (occult power) होती है। इस लब्धि का प्रगटीकरण तीर्थंकर के पादमूल में श्रमण-दीक्षा ग्रहण करते ही हो जाता है, इससे पहले नहीं। इस लब्धि के प्रगटीकरण होते ही, अन्तर के मानसिक और बौद्धिक बन्द कपाट उद्‌घाटित हो जाते हैं। तभी तो तीर्थंकर के श्रीमुख से त्रिपदी (उववन्नेइ वा, विगमेइ वा धुवेइ वा) को सुनकर, गणधर द्वादशांगी की रचना में, समस्त श्रुत को हृदयंगम करने में सक्षम हो जाते हैं।

आर्य सुधर्मा ऐसे ही गणधर थे।

आर्य सुधर्मा का जन्म कोल्लाक सन्निवेश में हुआ। इनका गोत्र वेश्यायन था। इनके पिता धनमित्र और माता भद्दिला थी। इनका जन्म नक्षत्र उत्तरा-फाल्गुनी था। वर्ण से ब्राह्मण थे।

ये अद्भुत प्रतिभासंपन्न, चौदह विद्याओं में पारंगत और कर्मकांडी विद्वान थे। इनके ५00शिष्य थे।

इनके हृदय में एक संशय था। प्राणी जैसा इस जन्म में होता है, क्या अगले जन्म में भी वैसा ही होता है अथवा उसके रूप-स्वरूप आदि में परिवर्तन हो जाता है।

इस संशय को भगवान महावीर ने मिटाया तो उसी समय इन्होंने अपने शिष्यों सहित भगवान के पाद-मूल में श्रमण-दीक्षा धारण कर ली। तत्काल ही इन्हें गणधर लब्धि प्राप्त हो गई।

इन्होंने ५0 वर्ष की आयु में भगवान महावीर से श्रमण संयम ग्रहण किया। ४२वर्ष तक छद्मस्थ रहें। ३0 वर्ष तक तो भगवान महावीर की सेवा में रहे और १२ वर्ष तक भगवान के निर्वाण के बाद भी छद्मावस्था में व्यतीत किये। तदुपरान्त ९२ वर्ष की आयु में इन्हें कैवल्य की उपलब्धि हुई। आठ वर्ष केवलि-पर्याय का पालन कर, तथा पूरे १00 वर्ष की आयु भोग कर निर्वाण प्राप्त किया।

इस प्रकार भगवान महावीर के निर्वाण के २0 वर्ष पश्चात् गणधर सुधर्मा मुक्त हुए।

सुधर्मा स्वामी का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इन्होंने जम्बू स्वामी को द्वादशांगी की वाचना दी। आज जो ११ अंग उपलब्ध हैं, वे सभी गणधर सुधर्मा की वाचना के हैं, इसीलिए वे सभी गणधर सुधर्मा प्रणीत कहलाते हैं।

गणधर सुधर्मा की शरीर-सम्पदा और गुण-सम्पदा का ग्रन्थों में बड़ा ही विशद और रुचिकर वर्णन हुआ है।

शरीर की दृष्टि से आपकी ऊँचाई सात हाथ की थी। आपके शरीर का संहनन प्रथम–वज्रऋषभनाराचसंहनन और समचतुरस्र संस्थान था। शरीर आकार-प्रकार से सुगठित था और संतप्त स्वर्ण के समान देह की कांति थी यानी आपके शरीर की आभा अथवा वर्ण लाल रंग (सिन्दूर) मिश्रित दूध के समान था।

आपके गुणों का वर्णन ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के प्रथम अध्ययन, सूत्र ४ में इन शब्दों द्वारा किया गया है-

अज्ज सुहम्मे नामं थेरे जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने बल-रूप-विणय-नाण-दंसण-चरित्तलाघव संपन्ने, ओयंसी, तेयंसी, वच्चंसी, जसंसी, जियकोहे, जियमाणे, जियमाये, जियलोहे, जियइंदिए, जियनिद्दे, जियपरिसहे, जीवियास-मरण-भय विप्पमुक्के, तवप्पहाणे, गुणप्पहाणे, एवं करण-चरण-निग्गह-निच्छय-अज्जव-मद्दव-लाघव-खंति-गुत्ति-मुत्ति-विज्जा-मंत-बंभ-वेय-नय-नियम-सच्च-सोय-णाण-दंसण-चरित्त

प्पहाणे, ओराले, घोरे, घोरव्वये, घोर तवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढ सरीरे, संखित्त- विउल तेउलेस्से, चोद्दस पुव्वी, चउनाणोवगए।

अर्थात् सुधर्मा नाम के स्थविर–जातिसंपन्न-उत्तम (उच्च कोटि के) मातृपक्ष-वाले, कुल-संपन्न–निर्दोष पितृपक्ष वाले (यानी सुधर्मा के मातृ और पितृपक्ष दोनों ही उत्तम थे) थे, बल (मानसिक, वाचिक-कायिक शक्ति) रूप (अनुत्तर विमानवासी देवों से भी अधिक रूपवान) विनय, ज्ञान (सम्यक्ज्ञान) दर्शन (सम्यग्दर्शन), चारित्र (सम्यक्चारित्र) लाघव (द्रव्य से अल्प उपधि वाले और भाव से रस, ऋध्दि, साता–इन तीन गारवों से रहित) से संपन्न थे।

वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। वे क्रोध, मान, माया, लोभ–चारों कषायों को जीतने वाले थे। निद्रा, परीषह पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली थी। जीवन की आशा और मरण के भय से मुक्त हो चुके थे। तपों और गुणों में अर्थात् अन्य तपस्वियों तथा गुणी जनों की अपेक्षा अधिक तप करने वाले तथा गुणों को धारण करने वाले होने से, प्रधान थे। करण सत्तरी, चरण सत्तरी में प्रधान, अनाचार में प्रवृत्ति न करने से निग्रह-प्रधान-उत्तम निग्रही, तत्व का निश्चय करने में निपुण, आर्जव-मार्दव-लाघव व कुशल, क्षमा-गुप्ति (मन-वचन-काय को गुप्त रखना)–मुक्ति (लोभ रहितता) में प्रधान, विद्या–(देव अधिष्ठित रोहिणी आदि विद्या) मंत्र (विभिन्न प्रकार के मंत्र), ब्रह्मचर्य, वेद (लौकिक और लोकोत्तर आगमों) में निष्णात थे।

नय (विविध प्रकार के नयों के ज्ञाता), नियम (अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण करने वाले) थे। सत्य-शौच के विशिष्ट ज्ञाता, उत्कृष्ट ज्ञानी-दर्शनी-चारित्री और उदार थे।

परीषहों, इन्द्रियों और कषायों आदि के प्रति कठोर, महाव्रतों का कठोरता-पूर्वक पालन करने वाले, कठिन तपस्या करने वाले, उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य-पालक, शरीर-संस्कार न करने वाले, विपुल तेजोलेश्या को अपने अन्दर संक्षिप्त करके रखने वाले, चौदह पूर्वों के ज्ञाता, चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव) को धारण करने वाले थे।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि आर्य सुधर्मा कितने विशिष्ट गुणों को अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए थे।

इस शारीरिक और गुण-संपदा के कारण उनका व्यक्तित्व भव्य और प्रभावशाली था। उनका प्रवचन जन-जन को मोहित करने वाला होता था, श्रोता श्रद्धा भक्ति से विभोर हो जाता था।

मगधेश कोणिक के उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति विभोर शब्द साक्षी दे रहे हैं-

सुयक्खाए ते भंते ! निग्गन्थे पावयणे।

सुपण्णत्ते ते भंते ! निग्गंथे पावयणे।

सुभासिए ते भंते ! निग्गंथे पावयणे।

सुविणीये ते भंते ! निग्गंथे पावयणे।

सुभाविए ते भंते ! निग्गंथे पावयणे।

अणुत्तरे ते भंते ! निग्गंथे पावयणे।

धम्मं णं आइक्खमाणा, उवसमं आइक्खइ।

उवसमं आइक्खमाणा, विवेगं आइक्खइ।

विवेगं आइक्खमाणा, वेरमणं आइक्खइ।

वेरमणं आइक्खमाणा, अकरणं पावाणं आइक्खइ।

णत्थि णं अण्णे केइ समणं वा माहणे वा,

जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए।

अर्थात् भगवन् ! आपका निर्ग्रन्थ प्रवचन सुआख्यात है। सुप्रज्ञप्त है। सुभाषित है। शिष्यों (विनीतों) से भली भाँति सुनियोजित है। सुभाषित है। अनुत्तर है।

आपने अपने धर्म-प्रवचन से उपशम भाव के साथ विवेक, विरति और निवृत्ति धर्म का सम्यक् प्रतिपादन किया है। कोई भी अन्य श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार धर्म की व्याख्या करने में समर्थ नहीं है।[१]

अन्तकृद्दशांग सूत्र में स्थान-स्थान पर सुधर्मा स्वामी का नामोल्लेख हुआ है। प्रत्येक वर्ग और सभी अध्ययन उनकी वाचना से प्रारम्भ होते हैं और अन्त भी उन्हीं के द्वारा होता है।

जम्बू उनसे जिज्ञासा करते हैं कि अमुक वर्ग अथवा अध्ययन में भगवान महावीर ने क्या भाव फरमाये हैं और उनकी जिज्ञासा को शांत करते हुए सुधर्मा स्वामी वर्ग अथवा अध्ययन का भाव (subject matter) का वर्णन करते हैं और अन्त में कहते हैं–भगवान महावीर ने अमुक अध्ययन के यह भाव फरमाये हैं, जैसे मैंने भगवान के श्रीमुख से स्वयं सुने हैं; वही तुम्हें बताये हैं।

इससे सुधर्मा की वचन-प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है।

---

२. साध्वी संघमित्रा : जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ ५८-५९.

अन्तकृद्दशांग सूत्र में सुधर्मा स्वामी के नाम के साथ कहीं 'अज्ज' विशेषण लगाया गया है तो कहीं 'थेरे'। जैसे 'अज्ज सुहम्मा', 'सुहम्मा थेरे'।

ये विशेषण उनकी चारित्रिक निर्मलता और ज्ञान गरिमा को प्रकट करते हैं। साथ ही उनके प्रति पूज्य भाव भी प्रदर्शित करते हैं।

वास्तव में सुधर्मा स्वामी प्रत्येक जैन साधक के लिए पूजनीय हैं।

३. जम्बू स्वामी

आर्य जम्बू प्रस्तुत अन्तकृद्दशांग सूत्र की रीढ़ और केन्द्र बिन्दु (back bone and instigating centre) हैं। इस सम्पूर्ण अंग आगम की रचना का प्रमुख आधार उनकी जिज्ञासा है, ज्ञान-प्राप्ति की अनबुझ पिपासा है। यदि वे अपने गुरु के समक्ष जिज्ञासा प्रगट न करते तो शायद इस अंग का निर्माण न होता और हम तक न पहुँचता।

जम्बू स्वामी ज्योतिपुंज थे, ज्ञानपिपासु थे, गुरु प्रदत्त द्वादशांगी तथा चौदह पूर्वों के ज्ञान–समस्त श्रुत को पी गए, पचा गये। अपनी मेधा में उस विशाल ज्ञान संसार को रत्नमंजूषा के समान सुरक्षित कर लिया।

ऐसे मेधावी जम्बू स्वामी का जन्म राजगृह नगर में एक अति धनाढ्य वैश्य परिवार में, भगवान महावीर के निर्वाण से १६वर्ष पूर्व (विक्रम पूर्व ४८६, ई. सन् ५११) में हुआ। इनके पिता का नाम श्रेष्ठी ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। माता द्वारा स्वप्न में जम्बू वृक्ष देखने अथवा जंबू द्वीपाधिपति देव की १०८ आयंबिल तप द्वारा आराधना के कारण इनका नाम जम्बूकुमार रखा गया। वे क्रमशः आयु के सोपान चढ़ते हुए सोलह वर्ष के और साथ ही समस्त पुरुषोचित कलाओं और विद्याओं में निपुण हो गए। पुत्र को सभी प्रकार योग्य देखकर माता-पिता ने इनका संबंध आठ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ निश्चित कर दिया।

उसी अवसर पर गणधर सुधर्मा स्वामी अपने ५००शिष्यों सहित राजगृह पधारे। सोलह वर्षीय युवक जम्बू ने उनका धर्मोपदेश सुना तो उसका हृदय वैराग्य से भर गया। घर आकर माता-पिता को श्रमण-दीक्षा लेने का निर्णय बताया तो माता-पिता बहुत निराश हुए। भाँति-भाँति से समझाया लेकिन जब जम्बू अविचलित रहे तो अन्त में माता-पिता ने कहा-

"हम आठ श्रेष्ठियों को तुम्हारे विवाह का वचन दे चुके हैं। हमारे वचन की लाज रखकर विवाह तो अवश्य ही कर लो।"

जम्बूकुमार ने कहा-

"आपके वचन की रक्षा करने को मैं तैयार हूँ, लेकिन पहले आप उन श्रेष्ठियों को मेरे दीक्षा-निर्णय की सूचना अवश्य दे दें। यदि वे कन्याएँ तथा माता-पिता फिर भी विवाह के लिए तत्पर हों तो मुझे कोई ऐतराज नहीं; किन्तु विवाह के दूसरे दिन मैं दीक्षा अवश्य ले लूँगा।"

माता-पिता और विशेष रूप से माता ने मन में सोचा–'कामिनी के स्नेह-जाल में उलझकर कौन निकला है ? जम्बू भी उलझ जायेगा।'

जम्बूकुमार की दीक्षा ग्रहण करने की सूचना कन्याओं के माता-पिताओं को भेज दी गई। उन सबकी चिन्तनधारा जम्बूकुमार की माता के समान ही प्रवाहित हुई और शुभ लग्न में आठ श्रेष्ठि कन्याओं का विवाह जम्बूकुमार के साथ हो गया। ९९ करोड़ सोनैया का दहेज मिला। दहेज से श्रेष्ठिका घर भर गया।

उस समय राजगृह की पहाड़ियों में प्रभव नाम का एक दुर्द्धर्ष तस्कर था। उसके ५०० साथी तस्कर थे। प्रभव के पास दो विशेष विद्याएँ थीं-(१) अवस्वापिनी–लोगों को निद्राधीन करने वाली और (२) तालोद्घाटिनी–ताले खोलने वाली। इन दो विद्याओं के प्रभाव से प्रभव राजगृह नगर में सफलतापूर्वक चोरियाँ करता था और कभी पकड़ा नहीं जाता था।

प्रभव ने जब सुना कि जम्बूकुमार को ९९ करोड़ सोनैया का दहेज मिला है तो वह ललचा गया। अपने ५००साथियों के साथ श्रेष्ठि ऋषभदत्त के घर जा पहुँचा। अपनी दोनों विद्याओं का प्रयोग किया और निश्चिन्ततापूर्वक उसके साथियों ने धन की पोटें (पोटलियाँ) बाँध लीं।

तभी चमत्कार-सा हुआ। ५००चोरों के पैर जमीन से चिपक गये। इस चमत्कार से चिन्तित होकर प्रभव इधर-उधर देखने लगा। उसने देखा–एक कक्ष में से मन्द प्रकाश आ रहा है साथ ही उसे वार्तालाप का धीमा स्वर भी सुनाई दिया। वह उस कक्ष के पास पहुँचा और कान लगा दिये।

विवाह की पहली रजनी!जम्बूकुमार की नवविवाहिता पत्नियाँ विभिन्न दृष्टान्त देकर उन्हें संसारी जीवन की ओर मोड़ने का प्रयास कर रही थीं और जम्बूकुमार भी दृष्टान्तों द्वारा ही उनके प्रयास को असफल करके संयम की सार्थकता को दृढ़ कर रहे थे।

उनका वार्तालाप सुनकर प्रभव को अपने तस्कर जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न हुई, हृदय वैराग्य से भर गया। उसके ५००तस्कर साथियों की भी यही दशा हुई।

जम्बूकुमार १, प्रभव १, उसके तस्कर साथी ५००, जम्बूकुमार के माता-पिता २, श्रेष्ठि कन्याएँ और उनके माता-पिता २४, इस प्रकार दूसरे दिन

प्रातः ५२८ व्यक्तियों ने सुधर्मा स्वामी के सान्निध्य में श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली और तप-संयम की साधना करके आत्म-शुध्दि करने लगे। इनमें जम्बूकुमार प्रमुख थे।

श्री जम्बूस्वामी ने १६ वर्ष की आयु में दीक्षा ली, २० वर्ष तक ज्ञान-ध्यान-तप-संयम की आराधना करते हुए श्रमण पर्याय का पालन करते रहे। ३६ वर्ष की आयु में कैवल्य प्राप्त हुआ। ४४ वर्ष तक कैवल्य पर्याय में व्यतीत किये और कुल ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर मुक्त हो गये।

वर्तमान अवसर्पिणी काल के आप अन्तिम केवली थे।

इनकी मुक्ति के उपरान्त दस बातों का विच्छेद हो गया-(१) केवलज्ञान (२) मनःपर्यवज्ञान (३) परमावधिज्ञान (४) पुलाक लब्धि (५) आहारक शरीर (६) क्षायिक सम्यक्त्व (७) जिनकल्प (८) परिहार विशुद्धचारित्र (९) सूक्ष्मसंपराय चारित्र और (१०) यथाख्यात चारित्र।

पूर्वभव-'जंबूसामी चरित्र' आदि कथा ग्रंथों में सुधर्मा स्वामी और जंबूस्वामी के पूर्व पाँच भवों का वर्णन करके उनका पारस्परिक संबंध दर्शाया गया है।

(वर्तमान जन्म से पूर्व पाँचवें जन्म) प्रथम भव में सुधर्मा का नाम भवदत्त और जंबू का नाम भावदेव था। दोनों परस्पर भाई थे-भवदत्त बड़े और भावदेव छोटे। उस जन्म में भी भवदत्त ने भावदेव को धर्म का उपदेश दिया था।

इसी प्रकार यह परम्परा आगामी जन्मों में भी चलती रही और इस अन्तिम भव में सुधर्मा तथा जम्बू के रूप में प्रगट हुई तथा दोनों की मुक्ति के रूप में परिणत होकर वह प्रेम-संबंध समाप्त हुए।

पूर्वजन्मों से चले आये संबंधों के कारण जम्बूस्वामी की सुधर्मा स्वामी के प्रति अटूट श्रध्दाभक्ति रही। सुधर्मा के भी जंबूस्वामी अन्तेवासी (अतिप्रिय और सदा साथ रहने वाले शिष्य) रहे।

जैन साहित्य और धर्म में जम्बूस्वामी का जीवन चरित्र अत्यधिक प्रेरक और रोचक रहा है। उनका त्याग श्लाघनीय है। अतुल वैभव और आठ नवविवाहिता अतिशय रूपवती, समर्पिता स्त्रियों का त्याग जन-मानस में उनके त्याग की प्रेरणा भर देता है।

द्वादशांगी की रचना के निमित्त रूप में उनका नाम जैन संसार में अमर है। अन्तकृद्दशा सूत्र भी उनकी जिज्ञासा का फल है।

युग-युग से जम्बूकुमार का नाम और यश अमर है तथा युग-युग तक अमर रहेगा।

४. मेघकुमार

मेघकुमार का संकेत अन्तकृद्दशा में प्रमुख रूप से प्रथम अध्ययन सूत्र ८ में जब गौतमकुमार भगवान अरिष्टनेमि की वन्दना करने जाते हैं तो वहाँ उनके गमन सम्बन्धी वर्णन के संबंध में संकेत किया गया है--एवं जहा मेघे--मेघकुमार के समान, यानी जिस प्रकार मेघकुमार भगवान महावीर के वन्दन के लिए निकले, इसी प्रकार गौतमकुमार भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए निकले। दर्शन वन्दन करके धर्म-श्रवण किया। मेघकुमार का विस्तृत वर्णन ज्ञातासूत्र १/१ में मिलता है।

ये मगधनरेश राजा श्रेणिक के पुत्र थे। इनकी माता धारिणी थी। धारिणी को दोहद हुआ कि मैं पति के साथ गजारूढ़ होकर वर्षा ऋतु के मेघमय वातावरण में वन श्री का आनन्द लूँ।

इस दोहद की पूर्ति अभयकुमार (राजा श्रेणिक के प्रथम पुत्र) ने अपने एक मित्र देव के सहयोग से की थी।

शिशु का जन्म हुआ। दोहद के आधार पर उसका नाम मेघकुमार रखा गया। वह पुरुषोचित कलाओं में निपुण बना। योग्य वय होने पर उसका विवाह आठ राजकन्याओं के साथ हुआ।

एक बार भगवान महावीर अपने धर्म-परिवार के साथ राजगृह पधारे और गुणशील उद्यान में विराजे। मेघकुमार उनके दर्शन-वन्दन, धर्मदेशना श्रवणार्थ गये। भगवान की देशना सुनकर प्रतिबुद्ध हुए। श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

माता-पिता से आज्ञा लेकर दीक्षित हुए।

संयम ग्रहण की पहली रात्रि ! वरिष्ठ-कनिष्ठ के क्रम से रात्रि विश्राम के लिए मुनि मेघकुमार को दरवाजे के पास स्थान मिला। सन्तों के आने-जाने के कारण रात्रि के अन्धकार में मेघ मुनि को ठोकरें लगती रहीं। उन्होंने इसे अपमान समझा, रात्रि भर सो नहीं सके। खिन्न होकर संयम पर्याय का त्याग करने का ही निर्णय कर लिया।

प्रातः संयम उपकरण प्रभु महावीर को लौटाने गये तो प्रभु ने इन्हें, इनके दो पूर्व-जन्मों का वृत्तान्त सुनाया। इन्हें भी जातिस्मरण (पूर्व-जन्मों का) ज्ञान हो गया।

पुनः प्रतिबुद्ध हुए। सन्तों के प्रति सेवाभाव से भर गये, तप-संयम की उत्कृष्ट साधना की और कालधर्म पाकर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव बने।

यह है मेघ मुनि का संपूर्ण जीवनवृत्त।

किन्तु प्रस्तुत अंग आगम अन्तकृद्दशा (१/१८) में जहां-जहां इनका नाम संकेत किया गया है, वह इनकें भगवान महावीर के दर्शन से संबंधित है। उसका वर्णन इस प्रकार है–

भगवान के आगमन को सुनकर (मेघकुमार के समान) गौतमकुमार हृष्ट-तुष्ट हुए। कौटुम्बिक पुरुषों को चार घंटों वाले धर्मरथ को लाने की आज्ञा देते हैं। उस आज्ञा का पालन कौटुम्बिक पुरुष करते हैं।

तत्पश्चात् उस मेघकुमार अथवा गौतमकुमार ने स्नान तथा कौतुक मंगल, प्रायश्चित्त आदि किया। फिर चार घंटों वाले धर्मरथ पर आरूढ़ हुआ। कोरंट वृक्ष के श्वेत फूलों की माला को धारण किया। सुभटों के विपुल समूह वाले परिवार से घिरा हुआ, नगर के बीचों-बीच होकर निकला। निकलकर उद्यान में आया, भगवान के दिव्यपताका, छत्र आदि अतिशयों को देखा, साथ ही विद्याधरों, चारण मुनियों और जृम्भक देवों को नीचे उतरते तथा ऊपर चढ़ते देखा। यह सब देखकर वह अपने धर्मरथ से उतरा। उतरकर निम्न पाँच अभिगम किये–

(१) पुष्प, पान आदि सचित्त वस्तुओं का त्याग किया;

(२) वस्त्र आदि अचित्त वस्तुओं का त्याग नहीं किया।

(३) एक शाटिका (दुपट्टे) का उत्तरासंग किया।

(४) भगवान पर दृष्टि पड़ते ही दोनों हाथ जोड़े।

(५) मन को एकाग्र किया।

यह अभिगम करके भगवान के पास आया। दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं, स्तुति-वन्दन-नमस्कार किया। फिर भगवान से न अति समीप, न अति दूर समुचित स्थान पर बैठकर, धर्मोपदेश सुनने की इच्छा करता हुआ, नमस्कार करता हुआ, दोनों हाथ जोड़े, सन्मुख रहकर, विनयपूर्वक प्रभु की उपासना करने लगा।

अन्तकृद्दशा सूत्र में '**एवं जहा मेहे वि**' संकेत से इतना वर्णन अभीष्ट है। अभिप्राय यह है कि गौतमकुमार भी इसी प्रकार अपने महल से निकले, द्वारका नगरी के मध्य होते हुए, भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुँचे और उनकी पर्युपासना की।

५. अभयकुमार

अभयकुमार मगधेश श्रेणिक का प्रथम पुत्र था। इसकी माता का नाम नन्दा था।

अभयकुमार अत्यन्त मेधावी, बुद्धि का वृहस्पति और कुशल तंत्री था। राजा श्रेणिक का दायाँ हाथ और मगध का महामंत्री भी था। इसी की बुद्धि-कुशलता से मगध जैसे विशाल साम्राज्य का सुशासन सफलतापूर्वक चलता रहा।

राजा श्रेणिक को यह अत्यधिक प्रिय था। इसी की योजना से श्रेणिक को चेलना जैसी जैनधर्मानुरागिणी और अत्यन्त रूपवती नारी प्राप्त हुई थी।

राज्य और रनिवास की प्रत्येक समस्या का समाधान अभयकुमार ने किया। रानी चेलना के दोहद की पूर्ति भी इसी ने की तो रानी धारिणी का दोहद भी इसी ने पूरा किया।

अन्तकृद्दशा सूत्र के वर्ग ३, अ. ८, सूत्र १८ में जो इसके नाम का संकेत **'जहा अभओ'** अभयकुमार के समान इन शब्दों द्वारा किया गया है, वह रानी धारिणी की दोहद पूर्ति से ही सम्बन्धित है।

रानी धारिणी को जब अकाल में वर्षाऋतु और मेघाच्छन्न वातावरण का दोहद हुआ तो उसकी पूर्ति के लिए पौषधशाला में गया, 'अष्टम भक्त तप (बेला) करके अपने मित्र देव की आराधना की और देव के सहयोग से रानी धरिणी का दोहद पूरा किया।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा सूत्र में श्रीकृष्ण वासुदेव, अपनी माता रानी देवकी की पुत्र-प्राप्ति की इच्छा पूरी करने के लिए पौषधशाला में गये, और तेला तप करके हरिणगमेषी देव की आराधना की, देव प्रगट हुआ और रानी देवकी को गजसुकुमाल नाम के पुत्र की प्राप्ति हुई।

दोनों घटनाएँ, लगभग समान होने के कारण अन्तकृद्दशा के सूत्रकार ने अभयकुमार का नाम संकेतित किया है।

अभयकुमार ने संसार से विरक्त होकर प्रभु महावीर के चरणों में दीक्षा ग्रहण की, ५ वर्ष तक संयम का पालन किया, विविध प्रकार के तप किये और आयु पूर्ण कर विजय नाम के अनुत्तर विमान में देव बना।

६. अतिमुक्तकुमार श्रमण

(उग्रसेन-पुत्र—कंस के लघु भ्राता)

अन्तकृद्दशांग वर्ग ३, सूत्र १० में अतिमुक्तकुमार श्रमण का उल्लेख प्राप्त होता है।

सन्दर्भ यह है कि जब दो-दो के संघाड़े में तीन बार छः मुनि देवकी के महल में आहार के लिए आते हैं तब उन सब के समान वय रूप को देखकर देवकी

संशय में पड़ जाती है और मुनियों के यह बताने पर कि हम छह सहोदर भाई हैं तथा भद्दिलपुर निवासी नाग गाथापति की पत्नी सुलसा के पुत्र हैं।

यह सुनकर देवकी का संशय और भी गहरा हो जाता है। उसे अपने बचपन की घटना याद आ जाती है–जब मैं पोलासपुर में थी तो अतिमुक्तकुमार श्रमण ने कहा था–हे देवकी ! तुम आठ पुत्रों को जन्म दोगी जो नलकूबर के समान सुन्दर होंगे तथा रंग-रूप-वय आदि में एक-से होंगे। इस भरत-क्षेत्र में ऐसे पुत्रों को कोई अन्य माता जन्म नहीं देगी।

देवकी के बारे में ऐसी भविष्यवाणी करने वाले मुनि अतिमुक्तकुमार श्रमण राजा उग्रसेन के पुत्र तथा कंस के छोटे भाई थे।

वसुदेवजी की कृपा से जब कंस को मथुरा का राज्य प्राप्त हुआ, उस समय उसके पिता उग्रसेन मथुरा के शासक थे। कंस ने, पूर्वबद्ध वैर के कारण अपने पिता उग्रसेन को ही बन्दी बना लिया और स्वयं मथुरा नरेश बन बैठा। कंस की क्रूर विषयानुगामी प्रवृत्तियों के कारण राजमहल का वातावरण भी विषमय हो गया। मांस-मदिरा आदि का सेवन तथा अनार्य वृत्तियाँ निराबाध चलने लगीं।

कंस के छोटे भाई अतिमुक्तकुमार प्रारम्भ से वैरागी स्वभाव के थे, धार्मिक आस्था उनके मन में गहरी समाई हुई थी। राजमहल के इस दूषित वातावरण से उन्हें वितृष्णा हो गई। उन्होंने एक श्रमण से जैन भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली और ज्ञान-ध्यान-तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

तपस्या के फलस्वरूप उन्हें अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त हो गईं।

अन्तकृद्दशा सूत्र के तृतीय वर्ग में संकेतित यही अतिमुक्तकुमार श्रमण हैं।

इनके जीवन का एक और प्रसंग त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में मिलता है। वह भी देवकी के जीवन से संबंधित है।

वसुदेव-देवकी के विवाह के उपलक्ष्य में कंस एक बड़ा हर्षोत्सव मना रहा था। प्रत्येक व्यक्ति हर्षोत्सव अपनी रुचि-प्रवृत्ति के अनुकूल मनाता है। कंस और उसकी पत्नी जीवयशा मांस-मदिरा सेवी तथा विषयी थे तथा राजमहल में भी मदिरा की सरिता बह रही थी।

ऐसे समय में मुनि अतिमुक्तकुमार श्रमण भिक्षा के लिए राजमहल में पहुँचे और वहाँ का वातावरण देखकर लौटने लगे तभी नशे में बेभान जीवयशा ने मुनि का मार्ग रोक लिया और कहने लगी–

'अरे देवर ! (संसारी दृष्टि से कंस के छोटे भाई होने के नाते) इस अवसर पर तुम भी पीओ और मस्त होकर हमारे साथ राग-रंग-क्रीड़ा करो।''

मुनि ने बहुत प्रयास किया कि जीवयशा द्वार से हट जाये, उन्हें बाहर जाने का मार्ग दे दे, लेकिन जब जीवयशा द्वार पर ही अड़ी रही तो आखिर मुनि के मुँह से निकल ही गया–

"जीवयशा ! जिस देवकी के विवाह उत्सव में तू मदोन्मत्त बनी हुई है, उसी का सातवाँ पुत्र तेरे पति का काल होगा।"

मुनि के ये वचन सुनते ही जीवयशा का नशा उड़ गया, वह द्वार से हट गयी। मुनि राजमहल के उस दूषित वातावरण से बाहर निकल गये।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कंस ने कुटिलतापूर्वक अपने उपकारी वासुदेव तथा देवकी को कैद (नजरकैद) कर लिया।

ये अतिमुक्तकुमार श्रमण अरिहंत अरिष्टनेमि के युग में हुए हैं।

७. श्रेणिक राजा

जैन साहित्य में श्रेणिक राजा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह मगध के विशाल साम्राज्य का स्वामी और भगवान महावीर का समकालीन था। भगवान महावीर के प्रति इसकी असीम आस्था थी, उनका दृढ़ श्रद्धालु भक्त था। आचार्यों ने इसके जीवन की विभिन्न घटनाओं को गुम्फित करके श्रेणिक चरित्र की रचना की है तथा इसके विषय में अनेक प्रकीर्णक रचनाएँ भी मिलती हैं।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र के सातवें और आठवें वर्ग में जिन २३ नारी साधिकाओं की लोमहर्षक तपोसाधना का वर्णन हुआ है, वे सब इसी राजा श्रेणिक की रानियाँ थीं।

राजा श्रेणिक का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

कुशाग्रपुर नरेश प्रसेनजित के सौ पुत्र थे, जिनमें श्रेणिक सबसे ज्येष्ठ और मेधावी था।

राजा प्रसेनजित ने एक भील-पुत्री के साथ विवाह इस शर्त पर किया था कि इससे उत्पन्न पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा। भीलकन्या से चिलातीकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

राजा वचनबद्ध थे। चिलातीकुमार को राज्यासीन करना ही था। उन्होंने कुमारों की बुद्धि-परीक्षाएँ लीं। यद्यपि श्रेणिक सभी में सफल रहा, फिर भी उसे देश निष्कासन का दण्ड दिया।

यह सब कुछ चिलातीकुमार को राजा बनाने के लिए किया गया। श्रेणिक के जाते ही इसे राज्यासीन कर भी दिया गया।

नगर से चलकर श्रेणिक एक बौद्धमठ में रुका। बौद्धाचार्य ने मीठे वचनों और आहार-पानी से उसका सत्कार किया। बौद्धाचार्य की इस उदारता से श्रेणिक प्रभावित हुआ।

आगे चला तो बेनातट नगर जा पहुँचा। उसके पुण्य प्रभाव, बुद्धि कुशलता से एक सेठ ने अपनी विदुषी और बुद्धिमती पुत्री नन्दा का विवाह उसके साथ कर दिया। नन्दा इस प्रकार श्रेणिक की प्रथम पत्नी थी जिसने अभयकुमार जैसे मेधावी पुत्र को जन्म दिया।

चिलातीकुमार के कुशासन में प्रजा बहुत दुखी हो गई, शासन-व्यवस्था बिगड़ गई, आर्थिक स्थिति रसातल को पहुँच गई, प्रजा के दुःख से दुखी राजा प्रसेनजित मृत्यु-शय्या पर पड़ गये। तब मंत्रियों के बुलावे पर गर्भवती नन्दा को बेनातट पिता के घर छोड़कर ही श्रेणिक को अपने रुग्ण पिता के पास आना पड़ा।

श्रेणिक ने शासन भार संभाला और अपनी नीति कुशलता से सभी को प्रसन्न करके राज्य को समृद्ध किया। उसका यश दूर-दूर तक फैल गया। 500 राज-कन्याओं के साथ उसका विवाह हो गया जिसमें धारिणी आदि प्रमुख थी।

कुछ वर्ष बाद अभयकुमार की बुद्धिमत्ता से श्रेणिक और उसकी प्रथम पत्नी नन्दा का भी मिलाप हो गया।

राजा श्रेणिक के अभयकुमार, कोणिक, मेघकुमार, कालकुमार, हल्लकुमार, विहल्लकुमार आदि कई पुत्र थे।

देश निष्कासन के समय बौद्धाचार्य ने जो उदारता दिखाई थी उसके कारण श्रेणिक बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। अनाथी मुनि के संपर्क और चेलना रानी की प्रेरणा से उसे यथार्थ तत्त्व का ज्ञान हुआ और वह भगवान महावीर का दृढ़ श्रद्धालु, परमभक्त तथा सम्यक्त्वी बन गया। वह संयम तो न ले सका लेकिन जो श्रमण दीक्षा लेना चाहते थे उन्हें भरपूर सहयोग देकर धर्म प्रचार-प्रसार में सहायक बना, तीर्थंकर नाम-गोत्र का बंध किया। आगामी चौबीसी में वह पद्म नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक की मृत्यु बड़ी विषम परिस्थितियों में हुई। उसी के पुत्र और चेलना के आत्मज कोणिक ने षड्यन्त्र करके उसे बन्दी बनाया और पिंजरे में डाल दिया। वहाँ उसने अपनी अंगूठी में जड़े हीरे को चबाकर प्राणोत्सर्ग कर दिया।

एक उल्लेख के अनुसार श्रेणिक का जन्म भगवान महावीर के जन्म से १५ वर्ष पूर्व (ई. पू. ६१४) में तथा देहावसान भी भगवान महावीर के निर्वाण से १५ वर्ष पूर्व (ई. पू. ५५२) में हुआ था।

८. रानी चेलना

चेलना राजा श्रेणिक की पटरानी थी। श्रेणिक इससे अत्यधिक प्रेम करता था, प्राणों से भी अधिक चाहता था। चेलना की प्रेरणा से ही राजा श्रेणिक जैनधर्मानुयायी और भगवान महावीर का भक्त बना।

चेलना, वैशाली नरेश राजा चेटक की सबसे छोटी और सातवीं पुत्री थी। इससे बड़ी छह बहनें और थी, जिनमें से पांच के विवाह तो तत्कालीन प्रसिद्ध राजाओं के साथ हो गये थे, छठवीं पुत्री सुज्येष्ठा ने संयम धारण कर लिया था तथा सातवीं पुत्री चेलना का विवाह मगध सम्राट श्रेणिक के साथ हुआ।

यह विवाह भी बड़े रोमांचक ढंग से हुआ।

सुज्येष्ठा (तब तक सुज्येष्ठा कुँवारी थी, उसने संयम ग्रहण नहीं किया था) की सुन्दरता से आकर्षित होकर मगधेश श्रेणिक ने अपना दूत वैशाली नरेश चेटक की राजसभा में भेजकर सुज्येष्ठा की याचना की।

किन्तु राजा चेटक ने स्पष्ट इन्कार कर दिया। कारण यह बताया कि श्रेणिक हीन कुल का है। एक कारण और भी हो सकता है कि चेटक राजा पक्के जैन धर्मानुयायी थे, जबकि उस समय तक श्रेणिक बौद्ध मतावलम्बी था। इस कारण चेटक अपनी पुत्री का विवाह श्रेणिक के साथ न करना चाहते हों।

राजा चेटक का इन्कार सुनकर कुशल तंत्री अभयकुमार की योजना से श्रेणिक ने काम किया। मगध राज्य की सीमा से वैशाली तक एक लंबी सुरंग खुदवाई। अभयकुमार के तंत्र से सुज्येष्ठा और चेलना दोनों ही राजा श्रेणिक के प्रति आकर्षित होकर उसके साथ भागने को उतावली हो गई।

निश्चित दिन और समय पर सुज्येष्ठा और चेलना दोनों बहनें सुरंग द्वार पर जा पहुँचीं। राजा श्रेणिक का रथ आने में देर थी। सुज्येष्ठा अपने जेवरों का डिब्बा भूल आई थी। उसने चेलना से कहा—मैं अपने जेवरों का डिब्बा कक्ष में भूल आई हूं। अभी लेकर आती हूं। यदि मगधेश आ जायें तो तू उन्हें रोक लेना। इतना कहकर सुज्येष्ठा चली गई।

श्रेणिक का रथ सुरंग द्वार पर आया। चेलना तुरन्त रथ में बैठ गई। श्रेणिक जल्दी में थे। रथवान ने रथ हांक दिया। चेलना चुपचाप सिकुड़ी-सिमटी बैठी रही। सुरंग पार होने के बाद चेलना ने रहस्य खोला—मैं सुज्येष्ठा नहीं, चेलना हूँ।''

राजा श्रेणिक ने चेलना को ही हृदयेश्वरी मान लिया।

इधर सुज्येष्ठा जेवरों का डिब्बा लेकर सुरंग द्वार पर आई तो उसने देखा कि चेलना चली गई है। खेल खत्म हो चुका है। निराश होकर उसने श्रमणी दीक्षा ग्रहण

की और भगवान महावीर के साध्वी संघ में सम्मिलित होकर तप-संयम की आराधना में दत्तचित्त हो गई।

चेलना दृढ़ सम्यक्त्वी और भगवान महावीर की परम भक्त थी जबकि श्रेणिक बौद्धगुरुओं का अनुयायी था। चेलना ने बड़ी कुशलता और बुद्धिमत्ता से यह धार्मिक भेद मिटाकर श्रेणिक को जिनधर्मानुयायी और भगवान महावीर का श्रद्धालु भक्त बना दिया।

यद्यपि श्रेणिक रानी चेलना को अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करते थे, फिर भी एक बार उनके हृदय में चेलना के सतीत्व के प्रति संशय का नाग फुंकार उठा।

घटना इस प्रकार हुई-

एक बार राजगृह में बहुत तेज शीत लहर चल रही थी। भगवान महावीर वहाँ पधारे। राजा श्रेणिक और रानी चेलना भगवान के दर्शन वन्दन के लिए रथ में बैठकर गये। लौटते समय उन्होंने देखा कि एक जिनकल्पी मुनि तालाब की पाल पर खड़े कायोत्सर्ग में लीन हैं। राजा-रानी ने उनको वन्दन किया और भावविभोर शब्दों में उनकी उत्कृष्ट साधना की प्रशंसा करते हुए महल में आ गये।

तेज शीत लहर तो चल ही रही थी। राजा-रानी शयन कक्ष में अपने-अपने पलंगों पर रत्न-कंबलों में लिपटे पड़े थे। शयन कक्ष के वातायानों पर मोटे ऊनी कंबल पड़े थे। दीपकों के प्रकाश से कक्ष गरम भी था। फिर भी शीत इतना था कि रत्नकंबल से शरीर का जो भी अंग बाहर रह जाता वही सुन्न पड़ जाता, अकड़ जाता।

रानी चेलना का भी एक हाथ नींद में रत्नकंबल से बाहर रह गया, अकड़ गया। रानी ने किसी तरह वह हाथ कंबल के अन्दर किया; किन्तु उसके मुख से यह शब्द निकल गये-

"ऐसे शीत में उनकी क्या दशा होगी ?"

राजा श्रेणिक जाग रहा था। ये शब्द कान में पड़ते ही शंका का नाग उसके मन-मस्तिष्क में फन उठाने लगा। चेलना के सतीत्व के प्रति वह संशय से भर गया। बेचैनी तनाव के कारण रात करवटें बदलते बीती।

प्रातः भगवान महावीर के समवसरण में पहुँचा। वन्दन नमस्कार करके पूछा-

"भगवन् ! मेरी रानी चेलना सती है या गुप्ता ?"

भगवान महावीर ने कहा-

"श्रेणिक ! राजा चेटक की सातों पुत्रियाँ सती हैं। तुम्हारी रानी चेलना भी सती है। उसके सतीत्व के प्रति संदेह करना भ्रम मात्र है।

फिर भगवान महावीर ने श्रेणिक की शंका निवारण करने हेतु कहा–

श्रेणिक ! जब तुम और रानी चेलना मेरे समवसरण से लौट रहे थे तो तुमने एक जिनकल्पी श्रमण को सरोवर की पाल पर ध्यानस्थ देखा। उन्हीं को लक्ष्य कर चेलना के मुख से ये शब्द निकले कि–ऐसे शीत में उनकी क्या दशा होगी ? जिसका तुमने गलत अर्थ लिया और चेलना को गुप्ता समझ बैठे।

वास्तव में चेलना परम श्रमणोपासिका और सती है।

भगवान के इन शब्दों से श्रेणिक का भ्रम मिट गया और चेलना का सतीत्व कुन्दन सा दमक उठा।

अन्तकृद्दशा सूत्र में चेलना का नामोल्लेख छठे वर्ग के दूसरे अध्ययन में हुआ है।

राजा श्रेणिक के समान रानी चेलना का भी जैन साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

९. माता देवानन्दा

देवानन्दा का उल्लेख अन्तकृद्दशा के तीसरे वर्ग के आठवें अध्ययन (गजसुकुमाल) में आया। जब देवकी समान रूप-वय वाले छह अनगारों के मातृत्व के विषय में शंका निवारणार्थ जाती है तब वहाँ पाठ आता है–**जहा देवाणंदाए**– अर्थात् जिस प्रकार देवानंदा भगवान महावीर के दर्शनार्थ गई उसी प्रकार देवकी भी भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जाती है।

देवानन्दा ब्राह्मणी थी। उसके पति का नाम ऋषभदत्त ब्राह्मण था। वे ब्राह्मण कुण्ड नगर में निवास करते थे।

दसवें प्राणत स्वर्ग से अपना आयुष्य पूर्ण कर भगवान महावीर का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवस्थित हुआ। तीर्थंकरों की माताओं द्वारा देखे जाने वाले चौदह महास्वप्न देवानन्दा ब्राह्मणी ने देखे। उसके हर्ष का पार न रहा।

उसी समय रानी त्रिशला के गर्भ में एक पुत्री भी अवस्थित हुई।

शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि भगवान महावीर का जीव देवानन्दा के गर्भ में अवस्थित हो चुका है तो उसने विचार किया कि तीर्थंकर का जन्म सदा ही क्षत्रियकुल में होता है।

उसने तुरन्त हरिणगमेषी देव को गर्भ संहरण की आज्ञा देते हुए कहा– देवानन्दा का गर्भ त्रिशला रानी की कुक्षि में और त्रिशला देवी का गर्भ ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि में स्थानान्तरित कर दो।

हरिणगमेषी देव ने ऐसा ही किया। त्रिशला देवी और ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ परस्पर बदल दिये inter-transfer कर दिये।

यह घटना भगवान महावीर के गर्भ में स्थित होने की ८२वीं रात्रि को हुई। भगवान ८२ रात्रि तक देवानन्दा के गर्भ में रहे। इस अपेक्षा से देवानन्दा भगवान महावीर की माता थीं।

गर्भ संहरण के बाद देवानन्दा को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके महास्वप्न लौट रहे हैं। वह बहुत दुःखी हुई। लेकिन जब उसी रात्रि को त्रिशला देवी ने महास्वप्न देखे तो वह खुशियों से भर गई।

लेकिन गर्भ संहरण की यह घटना अप्रकट ही रही, किसी को भी ज्ञात न हो सकी।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् एक बार श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में पधारे। उनके दर्शनों की जिज्ञासा ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी को भी हुई।

उन्होंने कौटुम्बिक बुलाया। स्नान आदि से निवृत्त होकर बहुमूल्य वस्त्र अलंकार धारण किये। धर्म रथ पर सवार हुए, भगवान को दूर से ही देखकर ५ अभिगम किये और भगवान से न दूर और न अति समीप जाकर उनकी प्रदक्षिणा, वन्दना-नमस्कार किया और उपासना करने लगे।

देवानन्दा भगवान को अपलक दृष्टि से देखने लगी। उसका रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठा। भगवान के प्रति वात्सल्य के कारण उसके स्तनों से दूध की धारा बहने लगी।

देवानन्दा की यह दशा देखकर गौतम स्वामी ने भगवान से जिज्ञासा की– प्रभु ! इस देवानन्दा ब्राह्मणी की ऐसा दशा क्यों हो रही है ?

तब भगवान ने संपूर्ण रहस्य उद्घाटित करके कहा–

"हे गौतम ! इस प्रकार देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है। मैं इसके गर्भ में ८२ रात्रियों (दिन) तक रहा हूँ। मेरे प्रति वात्सल्य भाव के कारण ही देवानन्दा ब्राह्मणी की यह दशा हो रही है।"

सम्पूर्ण रहस्य को जानकर देवानन्दा और ऋषभदत्त के हर्ष का ठिकाना न रहा। दोनों ने भगवान के पाद-पद्मों में दीक्षा ग्रहण की और तप-संयम की उत्कृष्ट आराधना कर मुक्त हुए।

१०. महाबल कुमार

महाबल कुमार का नाम संकेत अन्तकृद्दशा सूत्र के प्रथम वर्ग गौतमकुमार नामक प्रथम अध्ययन, सूत्र १७ में आया है। वहाँ राजा अन्धकवृष्णि की रानी धारिणी गर्भ धारण करते समय सिंह का स्वप्न देखती है, उस सन्दर्भ में कहा गया है–

स्वप्नदर्शन, पुत्रजन्म, उसकी बाल क्रीड़ाएँ, कला ज्ञान, यौवन, पाणिग्रहण, रम्य प्रासाद, भोग आदि सब महाबल कुमार के समान समझना चाहिए।

हस्तिनापुर नगर का राजा बल था। उसकी रानी का नाम था–प्रभावती।

एक रात्रि अपनी सुख शय्या पर सोई हुई थी। उसने स्वप्न में श्वेत सिंह देखा। उसकी नींद खुल गई। पति को अपना स्वप्न सुनाया।

राजा बल ने स्वप्न पाठकों को बुलाकर स्वप्न का फल पूछा। स्वप्न पाठकों ने विभिन्न प्रकार के ७२ स्वप्नों के फल की विवेचना करके रानी के स्वप्न का फल बताया कि–इसके फलस्वरूप अर्थलाभ, भोगलाभ, राज्यलाभ और पुत्रलाभ होगा।

यथेष्ट पुरस्कार देकर राजा ने स्वप्न पाठकों को विदा कर दिया।

गर्भकाल पूरा होने पर रानी प्रभावती ने एक सुन्दर, सुकुमाल, सर्वांगपूर्ण पुत्र को जन्म दिया। महोत्सवपूर्वक राजा बल ने अपने पुत्र का नाम महाबल रखा।

पाँच धात्रियों द्वारा महाबल कुमार का पालन-पोषण होने लगा।

बाल-क्रीड़ाओं से सबको प्रमुदित करता हुआ महाबल कुमार बढ़ने लगा। योग्य वय होने पर उसने कलाचार्य से कला-ज्ञान प्राप्त किया, युवा हुआ, पिता ने आठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया, माता-पिता की ओर से उसे (उसकी वधुओं को) आठ कोटि हिरण्य, आठ कोटि रजत आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रीतिदान मिला और वह अपने लिए निर्मित भवन में अपनी आठों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक भोग भोगने लगा।

हस्तिनापुर नगर में तीर्थंकर विमलनाथ के प्रशिष्य (शिष्यानुशिष्य) धर्मघोष अनगार पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनकर महाबल कुमार के हृदय में वैराग्य जाग्रत हुआ। माता-पिता के समक्ष अपनी इच्छा प्रगट की। माता-पिता ने बहुत समझाया लेकिन जब ये संसाराभिमुख न हुए तो उन्होंने कहा–

हम एक दिन के लिए तुम्हें राजा के रूप में देखना चाहते हैं।

इस पर महाबल कुमार मौन हो गये। धूमधाम से उनका राज्याभिषेक हुआ। राजसिंहासन पर बैठते ही दीक्षा की इच्छा प्रगट की।

आखिर इन्होंने विधिपूर्वक धर्मघोष अनगार के समक्ष श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली। सामायिक आदि १४ पूर्वों का अध्ययन किया। उपवास, बेला, तेला आदि अनेक तप करते हुए बारह वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन करते रहे। अन्त में संलेखना, संथारापूर्वक देहत्याग किया और ब्रह्मलोक कल्प में दस सागरोपम की आयु वाले देव बने।

देवलोक का आयुष्य पूर्ण करके भगवान महावीर के शासनकाल में, सुदर्शन श्रेष्ठी के रूप में वणिज्यग्राम में जन्म लिया।

सुदर्शन श्रेष्ठी श्रमणोपासक और जीवाजीव का ज्ञाता था। भगवान महावीर के पादमूल में इसने श्रमण दीक्षा ग्रहण की, चौदह पूर्वों का अध्ययन किया, बारह वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन किया और अन्त में मुक्त हो गये।

(भगवती सूत्र ११)

११. आर्य स्कन्दक (खंधक)

अन्तकृद्दशा सूत्र में स्कन्दक मुनि का उल्लेख तीन बार आया है। (१) प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन के सूत्र ९ में जब गौतम कुमार १२ भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना करते हैं। (२) छठे वर्ग के प्रथम सूत्र (सूत्र १) में जब मंकाई (गाथापति) मुनि गुणरत्नसंवत्सर तप करते हैं। (३) वर्ग ८ के सूत्र १४ में जब साध्वी महासेनकृष्णा धर्मचिन्तन और धर्मजागरणा करती हुई संलेखना-संथारा का निश्चय करती हैं।

इन तीनों सन्दर्भों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्य स्कन्दक ने बारह भिक्षु प्रतिमाओं, गुणरत्नसंवत्सर तप और संलेखना संथारा की विधिवत् आराधना की थी। इसी कारण अन्तकृद्दशा सूत्र के तीन स्थलों पर उनकी उपमा दी गई है।

स्कन्दक जी का जीवनवृत्त इस प्रकार है।

राजगृह नगर के पश्चिमोत्तर भू-भाग में कृतंगला नाम की नगरी थी। उसी के सन्निकट श्रावस्ती नगर था। वहाँ कात्यायन परिव्राजक का शिष्य स्कन्दक परिव्राजक निवास करता था। वह समस्त वेद-वेदांगों, इतिहास, नीति व अन्य दर्शनों में पारंगत था।

श्रावस्ती में ही पिंगल नाम का निर्ग्रन्थ वेसालीय श्रावक निवास करता था। वह निर्ग्रन्थ प्रवचन के रहस्य का ज्ञाता था।

एक बार पिंगल और स्कन्दक दोनों मिले–पिंगल ने स्कन्दक से पूछा–

स्कन्दक ! यह लोक सान्त है या अनन्त है ?

जीव सान्त है या अनन्त है ?

सिद्धि सान्त है या अनन्त है ?

सिद्ध सान्त है या अनन्त है ?

किस प्रकार का मरण पाकर जीव संसार को घटाता या बढ़ाता है ?

इन द्विधात्मक प्रश्नों को सुनकर स्कन्दक असमंजस में पड़ गया। एकान्त भाषा में कोई उत्तर संभव नहीं था। वह विचारमग्न हो गया। कुछ भी न कह सका। उसके दिल में हलचल मच गई। अपने ज्ञान के प्रति शंकाशील हो उठा।

उसी समय उसने लोगों के मुख से सुना कि भगवान महावीर समीप ही कृतंगला नगरी में पधारे हैं। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए स्कन्दक भी भगवान महावीर के पास कृतंगला नगरी की ओर चल पड़ा।

उसके पहुँचने से पहले ही भगवान महावीर ने गौतम गणधर से कहा–

गौतम ! आज तुमसे तुम्हारा पूर्व स्नेही मिलेगा।

गौतम ने पूछा–

कौन भगवन् !

स्कन्दक परिव्राजक।

वह यहाँ किसलिये आ रहा है ?

पिंगल श्रावक ने लोक आदि की सान्तता-अनन्तता के विषय में उससे कुछ प्रश्न किये थे, जिनके उत्तर वह न दे सका। उन्हीं के समाधान के लिए वह मेरे पास आ रहा है।

भगवान इतना कह पाये थे कि गौतम को दूर से आता हुआ स्कन्दक परिव्राजक दिखाई दिया। गौतम ने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया। स्कन्दक प्रसन्न हो गया।

फिर उसने वन्दना-नमस्कार करके भगवान के समक्ष अपनी जिज्ञासाएँ रखीं। भगवान ने स्याद्वाद शैली से उनका समाधान कर दिया।

अपने सभी प्रश्नों का समुचित समाधान पाकर स्कन्दक बहुत प्रभावित हुआ। उसने भगवान से श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली। बारह भिक्षु प्रतिमाओं और गुणरत्न-संवत्सर तप की आराधना की। बारह वर्ष तक निरंतर साधना और श्रमण पर्याय का पालन करते रहे। आयु के अन्त में विपुलाचल पर्वत पर संलेखना संथारा करके शरीर का त्याग किया और अच्युत कल्प में देव बने।

१२. चन्दनबाला

अन्तकृद्दशा सूत्र के वर्ग ७ और ८ के प्रत्येक अध्ययन में आर्या चन्दनबाला के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है। यह भगवान महावीर के श्रमणी संघ की नायिका और ३६००० श्रमणियों में प्रमुख थी।

दीक्षा-पूर्व तक का चन्दनबाला का जीवन बड़ा ही रोमांचक और कष्टों की जीवन्त गाथा रहा है। इसका माता-पिता द्वारा दिया गया नाम तो वसुमती था। चन्दनबाला नाम तो इसके चन्दन जैसे शीतल स्वभाव के कारण पड़ा। जैसे–काटने, छीलने, घिसने पर भी चन्दन शीतलता ही प्रदान करता है, उसी प्रकार घोर कष्टों, दु:खों, अपमानपूर्ण स्थितियों में भी उसने कभी क्रोध नहीं किया, किसी अन्य पर आरोप आक्षेप नहीं लगाया; सदा चन्दन के समान ही शीतल रही। इस कारण उसका गुण निष्पन्न नाम चन्दनबाला सार्थक और जैन संसार में प्रसिद्ध रहा।

चम्पा नरेश राजा दधिवाहन और उनकी रानी धारिणी की पुत्री थी–वसुमती। उसका स्वभाव बहुत ही गंभीर और विचारशील था।

उस युग में राज्य विस्तार की लिप्सा अत्यधिक तीव्र थी। राजा लोग कारण हो या न हो एक-दूसरे पर आक्रमण करते ही रहते थे।

कौशाम्बी नरेश शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया। राजा दधिवाहन पलायन कर गये। कौशाम्बी के सैनिकों को लूट की खुली छूट मिल गई।

एक सारथी ने रानी धारिणी और वसुमती का अपहरण किया। रथ में बिठाकर ले चला। बीच जंगल में रथ रोककर उसने रानी धारिणी के समक्ष अपनी कामेच्छा प्रगट की तो अपने शील की रक्षार्थ रानी ने अपनी जीभ खींचकर प्राणोत्सर्ग कर दिया। रथी हतप्रभ और निराश हो गया। वसुमती को धर्म-पुत्री बना लिया।

वसुमती को साथ लेकर अपने घर कौशाम्बी पहुँचा तो उसकी पत्नी वसुमती के प्रति सशंकित हो गई। उसने घर में क्लेश मचा दिया।

विवश होकर रथी ने वसुमती को कौशाम्बी के उस चौराहे पर लाकर खड़ा किया, जहाँ दास-दासी खरीदे–बेचे जाते थे। धनावा नाम के सेठ ने वसुमती को खरीदा और अपने घर ले आया।

धनावा धार्मिक व्यक्ति था, द्वादशव्रती श्रावक था। लेकिन उसकी पत्नी मूला शंकालु स्वभाव की थी। उसके मन में यह शंका घर कर गई कि इस रूपवती को सेठ अपनी पत्नी बना लेगा; फिर मेरी कितनी बुरी दशा होगी। किसी तरह इस लावण्यमयी युवती से पीछा छुड़ाना चाहिए। बड़ी बेतावी से वह अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगी। वह अवसर भी उसे शीघ्र मिल गया।

सेठ धनावा एक बार आस-पास के गाँवों में कार्यवश चला गया। जाते समय सेठानी मूला से कह गया कि तीन दिन बाद लौटूँगा।

सेठानी को मौका मिल गया। उसने सब दास-दासियों को अवकाश दे दिया, सभी अपने-अपने घर चले गये। एकान्त पाकर सेठानी मूला ने वसुमती के बाल काट दिये, वस्त्र उतार लिए, सिर्फ लज्जावसन रहने दिये, हाथों में हथकड़ी और पाँवों में बेड़ी डालकर तहखाने (भौंयरे) में बन्द किया और घर को ताला लगाकर तथा चाबी अपने साथ लेकर पीहर चली गई।

तीसरे दिन धनावा वापिस आया तो घर का ताला लगा देखकर चकित हुआ। किसी तरह मूला से चाबियाँ मँगवाईं। लेकिन वसुमती (चन्दना) उसे कहीं दिखाई न दी। उच्च स्वर से पुकारने पर तलघर से चन्दना का क्षीण स्वर सुनाई पड़ा। धनावा ने उसे निकाला तो उसकी दुर्दशा देखकर रो पड़ा। तीन दिन भूखी चन्दना को एक सूप के कौने में रखकर उड़द के बाकुले खाने को दिये और हथकड़ी-बेड़ी काटने के लिए किसी लुहार को बुलाने चला गया।

तीन दिन भूखी-प्यासी कमजोर चन्दना उस सूप को लेकर वहीं देहली पर बैठ गई और मन में विचार करने लगी–यदि कोई त्यागी-तपस्वी श्रमण-सन्त आ जायें तो उन्हें यह बाकुले देकर अपना जीवन धन्य बनाऊँ।

इधर भगवान महावीर ने १३ बोलों का एक कठिन अभिग्रह ले लिया था–

(१) राजकन्या हो (२) बेची गई हो (३) मुण्डित केश हो (४) हाथों में हथकड़ी (५) पैरों में बेड़ी (६) तीन दिन की भूखी, (७) सिर में घाव (८) आँखों में आँसू (९) दिन के दो पहर बीत चुके हों। (१०-११) एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो (१२) छाज (सूप) में (१३) बासी उड़द के बाकुले लिए खड़ी हो तो उससे भिक्षा ग्रहण करना अन्यथा छह महीने तक उपवास (अनशन) करना।

भगवान कौशाम्बी में प्रतिदिन आहार के लिए भ्रमण करते; किन्तु उनका यह १३ बोलों का अभिग्रह पूरा न होता तो वापिस लौट जाते। इस तरह ५ माह २५ दिन व्यतीत हो गये।

आखिर उनका अभिग्रह चन्दनबाला के हाथों पूर्ण हुआ। भगवान ने भिक्षा ग्रहण की। तत्काल अहोदानं अहोदानं की देव-ध्वनि गूँज उठी। देवताओं ने पाँच दिव्यों की वृष्टि की। साढ़े बारह करोड़ सोनैया की वर्षा हुई। धनावा सेठ का घर-आंगन सोनैया से भर गया।

चन्दनबाला की हाथकड़ियाँ-बेड़ियाँ टूट गईं, उसके केश पुनः उग आये। पहले से भी कई गुना रूप निखर उठा।

इस चमत्कार को देखकर धनावा के हर्ष का ठिकाना न रहा और मूला हतप्रभ रह गई।

नगर-निवासी खुशी से झूम उठे। भगवान के पारणे की बात जानकर सभी ने चन्दना की प्रशंसा की।

राजा शतानीक को जब चन्दनबाला का वास्तविक परिचय ज्ञात हुआ तो उन्हें अपनी राज्यलिप्सा पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। भविष्य में व्यर्थ ही किसी देश पर आक्रमण न करने का निर्णय कर लिया।

चन्दनबाला विरक्त-सी रहने लगी। कुछ समय बाद जब उसे ज्ञात हुआ कि भगवान महावीर को कैवल्य प्राप्त हो चुका है और वे धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, तो वह उनके समवसरण में पहुँची और दीक्षा अंगीकार कर ली।

चन्दनबाला भगवान महावीर की प्रथम शिष्या साध्वी और ३६००० साध्वी संघ की प्रमुखा थी। केवलज्ञान प्राप्त कर वह मुक्त हो गई।

● ●

अध्याय १०

विविध प्रसंग

अन्तकृद्दशांग सूत्र में विविध विषयों का वर्णन भी हुआ है तो अनेक विषयों का प्रसंगानुसार संकेत भी किया गया है। उदाहरणार्थ स्वप्न-दर्शन आदि के लिए महाबल कुमार का **जाव महब्बले**–शब्दों से संकेत किया गया है तो नगर वर्णन के लिए **जाव उवाइये** शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

इन विविध प्रसंगों का स्पष्ट वर्णन आवश्यक है। यहाँ हम कुछ विशिष्ट प्रसंगों को स्पष्ट रूप से देने/वर्णित करने का प्रयास कर रहे हैं।

१. स्वप्न वर्णन

स्वप्न अथवा dreams ऐसे चलचित्र के समान मानसिक (mental) और चैतसिक तथा अवचेतन मन (subconscious mind) के विकार तथा कल्पनाएँ हैं, जिन्हें सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी–मनुष्य और तिर्यंच देखते हैं।

स्वप्नों का संसार भी बहुत ही विचित्र और अनोखा है। ऐसे-ऐसे दृश्य अर्धनिद्रित अवस्था में दिखाई देते हैं, जिनकी कल्पना भी जागृत अवस्था में नहीं की जा सकती।

स्वप्नावस्था में कभी मानव स्वयं को पर्वत शिखर पर देखता है तो दूसरे ही क्षण पर्वत की तलहटी में। कभी पक्षियों के समान व्योम विहार करता है तो कभी सागर की उत्ताल तरंगों में मछलियों के समान तैरता हुआ उमंगों से भर जाता है। कभी राजसिंहासन पर तो कभी स्वयं को भिक्षुक बना देखता है। स्वप्न संसार में राजा से रंक और रंक से राजा बन जाना क्षण भर का खेल है।

स्वप्न एक ऐसा कल्पना लोक है, जहाँ स्वप्नद्रष्टा स्वच्छन्द विचरण करता है।

स्वप्न कब दिखाई देते हैं ?

सामान्य धारणा यह है कि नींद में स्वप्न दिखाई देते हैं। जब व्यक्ति निद्राधीन होता है तब वह स्वप्न देखता है किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है।

जब व्यक्ति विश्राम करता है, अपनी थकान मिटाने के लिए शय्या पर लेटता है तब उसे नींद आती है। नींद में शरीर निश्चल और निश्चेष्ट हो जाता है, थकान दूर करने का प्रयास करता है। मस्तिष्क की भी लगभग यही दशा होती है। लेकिन अवचेतन मन विश्राम नहीं करता, चंचल रहता है। मस्तिष्क के सुसुप्ति दशा में जाने पर वह बंधनमुक्त होकर सक्रिय हो जाता है।

तब ऐसी स्थिति आती है कि व्यक्ति अर्धनिद्रित दशा में आ जाता है-यानी न वह पूर्णरूप से जागृत होता है और न घोर निद्रा में निमग्न ही रहता है। इस स्थिति में व्यक्ति स्वप्न देखता है।

यह अर्धनिद्रित-अर्धजागृत दशा रात्रि के प्रथम प्रहर में भी हो सकती है, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर में भी। और यदि व्यक्ति दिन में सो जाये तो वह दिन के समय भी स्वप्न देख सकता है। कभी-कभी तो बैठे-बैठे झपकियाँ लेते हुए भी स्वप्न-दर्शन कर लेता है।

किन्तु सामान्यतया रात्रि का समय ही निद्रा का समय माना जाता है, इसलिए स्वप्नशास्त्र में रात्रि के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ प्रहर में दिखाई देने वाले स्वप्नों के प्रकार, शुभाशुभ फल आदि का विवेचन किया गया है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में देवकी आदि जितनी भी रानियों और माताओं के स्वप्न दर्शन का उल्लेख हुआ है, वे सभी रात्रि के चतुर्थ प्रहर में ही स्वप्न देखती हैं। उन्हें उत्तम प्रकार के स्वप्न आते हैं।

स्वप्नों के प्रकार

व्यक्ति की कल्पनाओं, इच्छाओं, भावना और कामनाओं के असंख्य प्रकार होते हैं। उसी तरह स्वप्नों के भी असंख्य भेद होते हैं। स्वप्नों के प्रकारों की गणना करना भी कल्पना से परे है।

फिर भी स्वप्न शास्त्रों में स्वप्नों का वर्गीकरण किया गया है। भगवती और औपपातिक सूत्र में स्वप्नों के ७२ प्रकार बताए हैं जिनमें से ४२ सामान्य स्वप्न हैं और ३० महान स्वप्न कहलाते हैं। इन ३० में भी १४ अत्यन्त शुभ और महास्वप्न हैं, जिन्हें तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों की माताएँ उस समय देखती हैं जब तीर्थंकर और चक्रवर्ती इनके गर्भ में आते हैं।

स्वप्नों का वर्गीकरण

भगवती सूत्र में स्वप्नों का वर्गीकरण ५ प्रकार से किया गया है-

(१) **यथातथ्य स्वप्न दर्शन**-यह स्वप्न सत्य होते हैं, भविष्य के शुभाशुभ का स्पष्ट संकेत देते हैं। इनके दो उत्तर भेद हैं-(१) **दृष्टार्थाविसंवादी**-स्वप्न में जो

कुछ दिखाई दिया हो, जागने पर उसी रूप में घटित हो। यथा–कोई व्यक्ति स्वप्न में देखें कि उसको किसी व्यक्ति ने सुगंधित पुष्प भेंट किया है तो जागने पर भी उसे सुगंधित पुष्प भेंट में प्राप्त हों। (२) **फलाविसंवादी**–जिस स्वप्न का फल तो अवश्य मिले, किन्तु उस रूप में प्राप्त न होकर अन्य रूप में प्राप्त हो। यथा–किसी व्यक्ति ने देखा कि 'मैं हाथी पर आरूढ़ हूँ' लेकिन जागृत होने के बाद उसे कुछ समय में धन-संपत्ति की प्राप्ति हो जाय, व्यापार आदि में लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाय।

(२) **प्रतान स्वप्न**–प्रतान का अर्थ विस्तार है। विस्तार पूर्ण या लम्बा स्वप्न देखना, जिसमें एक-दूसरी से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का क्रम चलता रहे, ऐसे स्वप्न प्रतान स्वप्न कहलाते हैं। ऐसा स्वप्न सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। यदि स्वप्न में देखी गई घटनाएँ भयोत्पादक हों तो यह जीवन में आने वाली कठिनाइयों की सूचक भी हो सकती हैं और शुभ घटनाएँ जीवन में उन्नति का संकेत देती हैं।

(३) **चिन्ता स्वप्न**–ये स्वप्न व्यर्थ होते हैं। दिन में किसी बात का, समस्या और उलझन का चिन्तन किया हो, उनका विचार किया हो, उन्हीं का स्वप्न में दिखाई देना; चिन्ता स्वप्न कहलाता है।

लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस समस्या का समाधान सोचने पर भी न मिला हो, स्वप्न में अनायास ही उसका समाधान मिल जाय। ऐसी दशा में ये स्वप्न सार्थक भी होते हैं।

आधुनिक काल में कई प्रसिद्ध वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के जीवन का ऐसा ही अनुभव है। जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा गणित के क्लिष्ट प्रश्नों को जाग्रत दशा में हल न कर सके, स्वप्न में अनायास उन्हें उन पेचीदे सिद्धान्तों और गणित के सूक्ष्म प्रश्नों का हल मिल गया। समस्या सुलझ गई।

(४) **तद्विपरीत स्वप्न**–स्वप्न में जैसा देखा हो, उसके विपरीत फल प्राप्त होना। यथा–किसी पुरुष ने स्वप्न में देखा कि उसके हाथों में काँटे भरे हुए हैं, हथेलियाँ छलनी हो गई हैं और जागृत होने पर दूसरे दिन कोई व्यक्ति उसे फूलों का गुलदस्ता भेंट करे।

(५) **अव्यक्त स्वप्न**–स्वप्न में देखी हुई वस्तु आदि का स्पष्ट ज्ञान न होना अथवा जागने पर स्वप्न को भूल जाना, उसकी स्मृति न रहना।

इनके अतिरिक्त स्वप्नशास्त्र में स्वप्नों का वर्गीकरण अन्य दृष्टियों से किया गया है। यथा–प्रतीकात्मक, संकेतात्मक, दैहिक, भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक, शुभ-अशुभ आदि।

प्रतीकात्मक स्वप्न वह होते हैं, जो किसी दुखद या सुखद घटना का सूचन करते हैं। यथा-किसी ने स्वप्न में देखा कि आकाश से एक तारा टूट कर गिर गया। दो-चार दिन में उसके किसी प्रिय जन की मृत्यु हो गई। तारे का टूटना किसी प्रियजन की मृत्यु का प्रतीक था। इसी प्रकारे किसी तारे की चमक बढ़ जाना, रत्नराशि आदि देखना सुखद घटनाओं का प्रतीक है।

कुछ स्वप्न संकेतात्मक होते हैं। वे केवल संकेत देते हैं। उन संकेतों को समझने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। जैसे स्वप्न में किसी व्यक्ति ने जम्बू वृक्ष या आम्रवृक्ष देखा। ये स्वप्न किसी शुभ घटना के संकेतक होते हैं, जैसे-धन, यश, पुत्र आदि की प्राप्ति।

इसके विपरीत शव यात्रा, कंटीली झाड़ियाँ आदि स्वप्न में दिखाई पड़ें तो भविष्य में अशुभ घटनाओं की सूचक होती हैं।

दैहिक स्वप्न देही (प्राणियों-पशु-पक्षी) से संबंधित होते हैं। स्वप्न में यदि सात्विक पक्षी राजहंस आदि, हाथी, सिंह, वृषभ आदि धर्म, शौर्य और धैर्य के प्रतीक रूप पशु-पक्षी दिखाई दें तो मंगल सूचक और वायस (कौआ), चील आदि क्रूर कुटिल पशु आदि दिखाई दें तो भावी अमंगल की सूचना देते हैं।

भौतिक स्वप्न वे होते हैं, जिनमें प्राकृतिक दृश्य उद्यान, सरोवर, पर्वत, सागर आदि दिखाई देते हैं अथवा मनुष्य स्वयं को पर्वत शिखर पर चढ़ता हुआ, शान्त सागर अथवा सरोवर में शांतिपूर्वक तैरता हुआ देखता है।

इन स्वप्नों का फल स्वप्न में दृष्ट वस्तुओं की स्थिति पर निर्भर होता है। यदि सागर में मानव सुखपूर्वक तैरता हुआ देखे तो मंगलसूचक और यदि लहरों के थपेड़ों से खिन्न हुआ देखें तो भावी आपत्तियों का सूचक समझा जाता है। इसी प्रकार सुख से पर्वत शिखर पर पहुँच जाय तो सफलता और सुख तथा उन्नति और यदि श्रमित होकर खेदखिन्न हुआ बीच में बैठ जाय तो असफलता का सूचक होता है।

दैविक स्वप्न वे कहलाते हैं, जो या तो प्रीतिवश कोई देव स्वप्न देता है, अथवा मनुष्य स्वयं ही अपने को देव के रूप में देखता है। ये शुभ स्वप्न हैं। किन्तु निम्न कोटि के देव-भूत-प्रेत आदि अथवा इनके भयोत्पादक रूप, रोमांचकारी नाच-गान को देखना-आसन्न घोर संकट को सूचित करता है।

आध्यात्मिक स्वप्न सदैव ही आत्मोन्नति को द्योतित करते हैं। स्वप्न में त्यागी, तपस्वी, संत, मुनियों के दर्शन-वन्दन, स्वयं को धर्मस्थान में बैठा देखना, संतों के प्रवचन सुनना, सामायिक आदि करते हुए देखना-यह सब आध्यात्मिक स्वप्न हैं

तथा स्वप्नद्रष्टा की आध्यात्मिक रुचि, प्रगति और आत्मा की उन्नति के स्पष्ट संकेत हैं।

इस तरह स्वप्नों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है। सभी की अपनी-अपनी विशेषता और महत्त्व है।

किन्तु तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों तथा अन्य महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली पुरुषों के गर्भ में आते समय उनकी माताएँ जो महास्वप्न देखती हैं। उनकी जैन संसार में बहुत चर्चा होती है तथा उनका महत्व भी अत्यधिक माना गया है।

चौदह महास्वप्न

माता के गर्भ में जब तीर्थंकर या चक्रवर्ती का जीव अवतरित होता है तब माता १४ महास्वप्न देखती है। ये स्वप्न निम्न हैं–

(१) **चार दाँत वाला पर्वताकार श्वेत वर्ण का हाथी।** इसका फल है–वह जीव चार प्रकार के धर्म (श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका) का प्रतिपादन करने वाले होना।

(२) **वृषभ**–संसार में बोधि बीज का वपन करने वाला।

(३) **सिंह**–काम आदि विकारों को नष्ट करके धर्म का प्रसार करेगा। सिंह शौर्य, निर्भीकता आदि का प्रतीक है, अतः वह स्वयं अभय रहना तथा संसार के सभी प्राणियों को अभय देने वाला है।

(४) **लक्ष्मी**–वर्षीदान देकर संसार-त्याग करेगा और कैवल्य लक्ष्मी प्राप्त करने वाला।

(५) **माला**–त्रिलोक पूज्य होना।

(६) **चन्द्र**–चन्द्रमा की शीतल ज्योत्स्ना के समान सभी प्राणियों को सुखदायी होना।

(७) **सूर्य**–अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करके शुद्ध धर्म का उद्योत करने वाला।

(८) **ध्वजा**–धर्म की ध्वजा को विश्व क्षितिज पर फहराने वाला।

(९) **कलश**–धर्मरूपी प्रासाद पर वह स्वर्ण-कलश के समान शोभित।

(१०) **पद्म-सरोवर**–देव-निर्मित स्वर्ण-कमल पर विराजित होने वाला।

(११) **समुद्र**–सागर के समान गंभीर तथा केवल-ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण रूप मणि-रत्नों का धारक होना।

(१२) **विमान**–वैमानिक देवों द्वारा पूज्य।

(१३) रत्न-राशि–जिस प्रकार रत्न-राशि अप्रतिहत प्रभा से प्रभास्वर होती है उसी प्रकार उसका ज्ञानदर्शन अप्रतिहत होगा, ज्ञान-दर्शन की ज्योति से उद्योतित-प्रकाशित।

(१४) निर्धूम अग्नि–विशुद्ध एवं निर्मल धर्म का प्रतिपादन करने वाला होना।

स्वप्नों के ये फल तीर्थंकर की अपेक्षा से बताये गये हैं। यद्यपि यही स्वप्न चक्रवर्ती की माताएँ भी देखती हैं किन्तु अन्तर इतना है कि तीर्थंकर की माताएँ इन स्वप्नों को स्पष्ट तथा चमकीला देखती हैं; जबकि चक्रवर्ती की माता अपेक्षाकृत कम स्पष्ट और कम चमकीला।

वासुदेव (अर्ध चक्रवर्ती) की माताएँ इन १४ महास्वप्नों में से सात स्वप्न देखती हैं । यथा–(१) सिंह (२) सूर्य (३) कुम्भ (४) समुद्र (५) लक्ष्मी (६) रत्न राशि और (७) अग्नि।

बलदेव की माताएँ–(१) हाथी (२) पद्म सरोवर (३) चन्द्र और (४) वृषभ–ये चार स्वप्न देखती हैं तथा प्रतिवासुदेव की माताएँ तीन स्वप्न देखती हैं।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र में गौतमकुमार, गजसुकुमाल कुमार आदि साधकों की माताएँ गर्भ धारण करते समय सिंह का स्वप्न देखती हैं। सिंह शौर्य, पराक्रम, निडरता, अभयता आदि का प्रतीक है। गौतमकुमार आदि के जीवन में ये गुण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। इस रूप में माताओं द्वारा देखा गया सिंह का स्वप्न पुत्रों के जीवन में सार्थक हुआ।

भगवान महावीर के दस स्वप्न

अपने साधना काल में भगवान महावीर ने दस स्वप्न देखे थे। ये स्वप्न भी आध्यात्मिक स्वप्नों की कोटि में परिगणित किये जा सकते हैं। वे स्वप्न और उनका फल इस प्रकार है–

(१) **स्वप्न**–भयंकर ताड़ पिशाच को मारना।

फल–मोहनीय कर्म को नष्ट करना।

(२) **स्वप्न**–एक श्वेत पुंस्कोकिल का उपस्थित होना।

फल–सदा-सर्वदा शुक्लध्यान में रहना।

(३) **स्वप्न**–एक रंग-बिरंगे पुंस्कोकिल को देखना।

फल–विविध ज्ञान-विज्ञान मय द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा।

(४) **स्वप्न**–दो रत्नमालाएँ देखना।

फल–सर्वविरति और देशविरति–दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा।

(५) **स्वप्न**–श्वेत गोकुल देखना।

फल–चतुर्विध संघ का सेवा में उपस्थित रहना।

(६) **स्वप्न**–विकसित पद्म सरोवर देखना।

फल–चारों प्रकार के देवों का सेवा में रहना।

(७) **स्वप्न**–तरंगाकुल सागर को भुजाओं से तैरकर पार करना।

फल–संसार-सागर को पार कर लेना।

(८) **स्वप्न**–विश्व को आलोकित करता हुआ जाज्वलयमान सूर्य।

फल–केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति।

(९) **स्वप्न**–वैडूर्यवर्णी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित करना।

फल–सर्वत्र कीर्ति कौमुदी प्रसारित होना।

(१०) **स्वप्न**–मेरुपर्वत पर चढ़ना।

फल–समवसरण में सिंहासन पर विराजमान होकर धर्म की संस्थापना करना।

उपसंहार

निष्कर्षतः स्वप्न असंख्य प्रकार के होते हैं। वे शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। कुछ स्वप्न आगामी शुभाशुभ घटनाओं का संकेत देते हैं तो कुछ स्वप्न निष्फल भी होते हैं। दैहिक, दैविक, भौतिक, आध्यात्मिक आदि कई प्रकार से इनका वर्गीकरण किया जाता है। रात्रिकाल में भी व्यक्ति स्वप्न देखता है और दिन में सो जाये तो भी स्वप्न देख सकता है। यह भी अनिवार्य नहीं है कि प्रति रात्रि व्यक्ति स्वप्न देखे ही; कभी वह स्वप्न देखता है और कभी नहीं भी देखता है।

स्वप्न शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा गया शुभाशुभ सूचक स्वप्न एक वर्ष में फल देता है, द्वितीय प्रहर में देखा गया स्वप्न छः महीने में, तीसरे प्रहर में देखा गया तीन महीने में और अन्तिम प्रहर में देखा गया स्वप्न ७-८ दिन में फल देता है।

संक्षेप में स्वप्नों का संसार बड़ा ही अद्‌भुत और विचित्र है।

२. विवाह वर्णन

अनिवार्य परम्परा

विवाह, मानव समाज की एक अनिवार्य और आवश्यक परम्परा है। अति प्राचीनकाल से यह परम्परा चली आ रही है। सभ्य समाज में तो यह प्रचलित है ही, असभ्य समाजों में भी इसका प्रचलन है।

महत्व

विवाह का महत्व समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और धार्मिक (व्यवहार धर्म) सभी दृष्टियों से है।

समाजशास्त्रीय विचारकों के मतानुसार विवाह समाज को संगठित और उन्नतिशील बनाने में उपयोगी है। विवाह के कारण परिवारों का निर्माण होता है। उनमें पति-पत्नी, चाचा-चाची, वृद्ध पुरुष और स्त्रियाँ सभी मिल-जुलकर रहते हैं, परस्पर प्रेम-भाव बँटता है तथा शिशुओं का पालन-पोषण उचित ढंग से होता है, इन्हें उत्तम संस्कार दिये जा सकते हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण भी लगभग यही उपयोगिताएँ, विवाह की बताता है। साथ ही वह समाज का विस्तार ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र तक करता है। उनका तर्क है कि सुसंगठित और उत्तम संस्कारों से सम्पन्न विश्व शान्ति की स्थापना में सहायक बन सकता है। दूसरे शब्दों में विश्वशांति की आधारशिला उत्तम संस्कारों से युक्त सुसंगठित समाज है।

मनोविज्ञान मानव के मन को केन्द्र मानकर विवाह संस्था की उपयोगिता प्रतिपादित करते हैं। इनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। इनका कथन है कि पुरुष और स्त्री दोनों में ही काम अथवा प्रजनन की मूल प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करना अनिवार्य है, अन्यथा मानव के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है; और इस मूल प्रवृत्ति–काम प्रवृत्ति को संतुष्ट करने का सबसे सरल और उत्तम उपाय विवाह है।

धार्मिक और नैतिक दृष्टिबिन्दु भी विवाह की उपयोगिता स्वीकार करता है। नैतिक दृष्टि के अनुसार विवाह उच्छृंखलता और अराजकता को रोकता है। यदि स्वच्छन्द यौनाचार को स्वीकृति दे दी गई तो नैतिकता का ह्रास तो होगा ही, साथ ही मानव ऐड्स आदि अनेक बीमारियों का शिकार हो जायेगा। उपदंश (Venereal diseases) आदि जैसी भयंकर बीमारियाँ फैल जायेंगी, मानवता रुग्ण हो जायेगी। इसलिए विवाह आवश्यक है।

धार्मिक दृष्टि और विशेषरूप से जैन धर्म संपूर्ण ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ मानता है। लेकिन सभी स्त्री-पुरुष तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते। काम के आवेग को अवरुद्ध करना, सभी के लिए संभव नहीं है।

इस स्थिति पर विचार करके मेधावी आचार्यों ने काम को मर्यादित करने की दृष्टि से विवाह का सामाजिक महत्व स्वीकार किया है। काम की भावना अथवा कामाचार को अनेक स्त्रियों से हटाकर एक परिणीता स्त्री में केन्द्रित कर देना और उस विवाहित स्त्री के साथ भी मर्यादापूर्वक जीवन बिताना।

यही मत वैदिक धर्म परम्परा का भी है।

विवाहित जीवन में भी स्त्री-पुरुषों दोनों को जितना संभव हो सके अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य पालन का प्रयास करना चाहिए; भोगी भँवरा बनकर काम-भोगों में न डूब जाये, स्त्री के प्रति–भोगों के प्रति गूढ़ आसक्ति न रखे।

विवाह : दो दिलों का सम्बन्ध

विवाह के विषय में अधिकांश धारणा है कि यह दो दिलों का मिलन है। यह कथन पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित है। भारत में भी प्राचीन काल में गांधर्व विवाह होते थे। ऐसे विवाहों में युवक-युवती परस्पर विवाह कर लेते थे।

लेकिन विवाह दो परिवारों का मिलन भी होता है। विवाह के माध्यम से दो परिवार एकता के सूत्र में बँध जाते हैं। ऐसे विवाह बड़ी धूमधाम से होते हैं, बारातें सजती हैं, वर-पक्ष, कन्या-पक्ष के घर जाता है और बड़े समारोह के साथ वर-वधू का विवाह होता है, वे परस्पर विवाह के बन्धन सूत्र में बँधते हैं।

वर-पक्ष और कन्या-पक्ष वर-वधू को प्रीतिदान और दात (दहेज) देते हैं। कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष को दिया गया धन, वैभव आदि दात (दहेज) कहलाता है और वर-पक्ष अपने पुत्र तथा पुत्रवधुओं को जो कुछ देता है, वह प्रातिदान कहा जाता है।

श्री अन्तकृद्दशा सूत्र में ऐसे ही विवाहों का वर्णन है। वर का जितनी कन्याओं से विवाह होता है उसे उतने ही दात (दहेज–कन्या के पिता द्वारा दिया गया धन आदि) मिलते हैं और वर का पिता भी अपनी पुत्रवधुओं को धन आदि का प्रीतिदान देता है।

यथा–अन्तकृद्दशा के पहले वर्ग के पहले अध्ययन में गौतमकुमार का विवाह ८ राजकन्याओं के साथ हुआ था। वहाँ दात (दहेज) में प्राप्त तथा नववधुओं को प्रीतिदान में दी गई वस्तुओं के नाम इस प्रकार गिनाए गये हैं–

आठों पुत्र-वधुओं को इस प्रकार प्रीतिदान दिया–आठ करोड़ चाँदी के सिक्के, आठ करोड़ सोने के सिक्के, आठ श्रेष्ठ मुकुट, आठ श्रेष्ठ कुण्डल युगल, आठ उत्तम हार, आठ बाजूबन्दों की जोड़ी आदि अनेक प्रकार के आभूषण तथा इसी प्रकार उत्तम वस्त्र आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ दीं।

इसी प्रकार वधुओं को अपने पिताओं से भी विपुल (दात) दहेज मिला।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि दहेज का प्रचलन अति प्राचीनकाल से है। राजा, धनी और निर्धन सभी अपनी हैसियत के अनुसार दहेज देते थे, साथ ही पितृपक्ष भी नववधुओं को प्रीतिदान देता था। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि दहेज

अनिवार्य नहीं है। इसका नाम 'प्रीतिदान' है, अर्थात् कन्या के माता-पिता प्रेम और वत्सलतापूर्वक अपनी पुत्री को बिना किसी दबाव के अपनी सामाजिक मान-मर्यादा के अनुसार जो धन आदि सामग्री देते थे उसको ही प्रीतिदान कहा गया है।

उस युग में नारी का स्थान सम्मानित था। विवाह एक महोत्सव था और हर्षोल्लासपूर्वक मनाया जाता था।

वैदिक धर्म में विवाह को संस्कार कहा गया है। संस्कार का अर्थ है जीवन को सुसंस्कृत करना, सुधारना, नया और इच्छित एवं उन्नतिशील रूप देना। इसी कारण विवाह के समय इतना आयोजन किया जाता है।

जैन धर्म में स्त्री और पुरुष समान माने गये हैं। गृहस्थ जीवन में भी इनके अधिकार समान माने गये हैं। इसीलिए दहेज के साथ प्रीतिदान की प्रथा भी प्रचलित थी।

यों देखा जाय तो यह दोनों प्रथाएँ आज भी प्रचलित हैं। कन्या के माता-पिता दहेज देते हैं तो वर-पक्ष भी वधू को आभूषण, वस्त्र आदि देता है।

दूसरी बात भारतीय संस्कृति में विवाह सामाजिक, पारिवारिक संबंध तो है ही; धार्मिक और नैतिक संबंध भी है तथा जीवन भर के लिए होता है। जैन आगमों में पत्नी को **धम्मसहाया** कहकर विवाह का महत्व दिखाया है और उसे धर्म-पत्नी कहकर विवाह को धर्म और आध्यात्मिकता से संलग्न किया गया है।

दीक्षा वर्णन

दीक्षा, विशेष रूप से जैन श्रामणी दीक्षा व्यक्ति का नया जीवन है। व्यक्ति माता के गर्भ से निकलकर संसारी जीवन में प्रवेश करता है और दीक्षा ग्रहण करके, संसार का त्याग करता हुआ धार्मिक जीवन में प्रवेश करता है। संसार की ओर से पीठ मोड़ लेता है, संसार और सांसारिक जीवन तथा कामभोगों से विरक्त होता है। स्वपर-कल्याण, कर्म-निर्जरा और मोक्ष प्राप्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो जाता है।

किसी तीर्थंकर, केवली, धर्माचार्य अथवा देव की प्रेरणा से जब व्यक्ति को संसार खारा लगने लगता है तब वह अपने माता-पिता आदि से दीक्षा की अनुमति मांगता है। मोहवश माता-पिता उसे रोकने का प्रयास करते हैं, किन्तु दीक्षार्थी के दृढ़ निश्चय के समक्ष उन्हें झुकना पड़ता है, वे अनुमति देते हैं और उसका अभिनिष्क्रमण उत्सव मनाते हैं।

अन्तकृद्दशा सूत्र में गौतमकुमार की दीक्षा (अभिनिष्क्रमण) महोत्सव का वर्णन कुछ विस्तार से आया है।

कभी ऐसा भी होता है कि माता-पिता अपने दीक्षार्थी पुत्र को एक दिन के लिए राजा बना देते हैं, जैसा कि अन्तकृद्दशा सूत्र के गजसुकुमाल और अतिमुक्त कुमार (ऐवन्ताकुमार) के अध्ययन में हुआ है। तब वह दीक्षार्थी राजा बनकर दीक्षा की अभिलाषा प्रगट करता है। तदनन्तर उसका दीक्षा महोत्सव होता है।

दीक्षार्थी को ऊँचे पाट पर बिठाया जाता है, गंध द्रव्यों से उसके शरीर का उबटन किया जाता है, शतपाक सहस्रपाक तेल की मालिश की जाती है। अनेक औषधियों से मिश्रित जल के घड़ों से स्नान कराया जाता है। उसे उत्तम वस्त्रालंकारों से सुसज्जित किया जाता है। १००० पुरुष उठा सके, ऐसी शिविका में उसे बिठाकर नगर के मध्यवर्ती भागों में होकर दीक्षा स्थल पर ले जाया जाता है। वहाँ दीक्षार्थी गुरुदेव को नमन करके ईशानकोण में जाता है, बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतारकर साधु वेश धारण करता है और गुरुदेव के समक्ष आकर उन्हें नमन-वन्दन करके दीक्षा की प्रार्थना करता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि धर्म तो आडम्बरहीन होता है, फिर दीक्षा विधि में अभ्यंगन, उत्तम वस्त्रालंकार आदि धारण करने की आवश्यकता ही क्या है?

इसका उत्तर यह है कि दीक्षार्थी तो विरागी ही होता है, लेकिन इस आडम्बरपूर्ण लम्बे विधि–विधान से जनता–साधारणजन भी धर्म से प्रभावित होता है। उन्हें धर्मपालन और दीक्षाग्रहण करने की प्रेरणा मिलती है।

साधक अपने सिर के बालों का लोंच करता है, जिन्हें माता अपने आँचल में ग्रहण करती है। माता-पिता गुरुदेव से प्रार्थना करते हैं–हे भगवन् ! हम आपको शिष्य-भिक्षा दे रहे हैं। यह हमारा अति प्रिय पुत्र है। इसका कल्याण करिए।

तब गुरुदेव रात्रिभोजन त्याग के साथ त्रिकरण-त्रियोग (करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से, वचन से, काया से– इस प्रकार नव कोटि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह–इन पांच महाव्रतों का यावज्जीवन प्रत्याख्यान कराके उसे दीक्षित कर लेते हैं।

इस प्रकार दीक्षा विधि पूर्ण होती है।

महत्व

दीक्षा विधि की इस लम्बी प्रक्रिया का प्रमुख महत्व यह है कि दीक्षार्थी अनेक लोगों की भीड़ के सामने दीक्षा ग्रहण करता है तो वह अपने व्रत-नियम, महाव्रत-पालन, मूल-गुण, उत्तर-गुणों में अधिक सजग और सावधान रहता है, शिथिलाचार और स्खलनाओं से यथासंभव बचता रहता है।

दूसरा महत्व यह है कि अन्य उपस्थित जन भी जैन श्रमण की दीक्षा विधि से परिचित हो जाते हैं। साथ ही वे जैनधर्म और दीक्षार्थी के जय उद्घोषों से साधक का मनोबल बढ़ाते हैं। दीक्षार्थी भी दीक्षा के गौरव से मंडित हो जाता है।

नवदीक्षित साधु के मन-मस्तिष्क में यह भावोर्मियाँ उठने लगती हैं। जैन धर्म और जैन श्रमण-दीक्षा कितनी महान है कि सर्वसाधारण जन भी इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। मैं अपनी संयम-साधना से इसे और भी चमकाऊँ, जिससे धर्म का प्रचार-प्रसार बढ़े, लोगों की श्रद्धा और भी दृढ़ हो।

जैन श्रामणी दीक्षा के वर्णन से विविध प्रकार के लाभ हैं।

नगर-वर्णन

प्राचीन भारत में अयोध्या, काशी, चम्पा, राजगृह, द्वारका आदि कई महानगरियाँ थीं, जो सभी प्रकार से समृद्ध और शोभा संपन्न थीं।

प्रस्तुत अन्तकृद्दशा सूत्र में द्वारका का वर्णन तो कुछ विस्तार से हुआ है। लेकिन शेष नगरियों के लिए **जहा उववाइये**–संकेत कर दिया गया है। औपपातिक सूत्र में महान नगरियों का संपूर्ण विवरण प्राप्त होता है।

हम उस विवरण का संक्षिप्त सार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

महान नगरियाँ वैभवशाली, सुरक्षित और समृद्ध होती थीं। उनमें आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन होते थे अतः वहाँ के निवासी तथा अन्य देशों से आने वाले व्यक्ति प्रसन्न रहते थे। आबादी घनी होती थी तथा मुर्गों एवं सांड़ों की बहुतायत एवं गायों और भेड़ों की प्रचुरता होती थी। कृषि बहुत उत्तम और नगरी के आसपास की भूमि उपजाऊ होती थी।

असामाजिक तत्त्व चोर, पाकेटमार, उपद्रवी जन वहां नहीं रह पाते थे। जनता का जीवन, सुखी और शांतिमय होता था।

नगरी में नागरिकों के मनोरंजन के साधन भरपूर होते थे। नट, नर्तक, कलाबाज, मल्ल, मसखरे, कथा कहने वाले, रास गाने वाले, तन्तु नाद बजाने वाले आदि बहुत संख्या में होते थे, जिनकी कला से जनता का मनोरंजन होता था।

ऊँचे-ऊँचे महल और भवन होते थे, जिनके स्वर्णिम कँगूरे सूर्य रश्मियों के पड़ने पर अत्यधिक चमकते थे। सात-सात और नौ-नौ मंजिल के भवन थे, जिनके फर्श मणिखचित होते थे, दीवारें भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों से सुशोभित होती थीं और ऐश्वर्य अठखेलियाँ करता था।

वहाँ के नागरिक उदार होते थे। अतः भिक्षुकों को दान सरलता से मिल जाता था। कोई भी भूखा नहीं रहता था।

अनेक प्रकार के कौटुम्बिक, पारिवारिक जनों की घनी बस्ती होते हुए भी शान्ति व्यवस्था रहती थी।

नगरी के राजपथ, रथ्या आदि चौड़े होते थे, जिनसे नागरिकों को गमनागमन में सुविधा रहती थी। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के बाजार अलग-अलग होते थे, जहाँ वस्तुएँ सजी रहती थीं।

नगरी की सुरक्षा का प्रबन्ध सुदृढ़ था। आठ हाथ चौड़ा और काफी ऊँचा परकोटा होता था। द्वार (किवाड़ों) की बाहरी ओर नुकीले भाले जैसी कीलें लगी रहती थीं। द्वार बहुत मजबूत होते थे। परकोटे के सहारे आश्रय स्थल बने रहते थे, जिनमें रक्षक गण विश्राम कर सकते थे।

नगर में स्थान-स्थान पर उद्यान रहते थे। जिनमें सरोवर और बावड़ियाँ तथा उनमें कमल-पुष्प खिले रहते थे। वे चित्त को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, मनोज्ञ और मन में बस जाने वाले थे।

लगभग ऐसा ही वर्णन अन्तकृद्दशा सूत्र में द्वारका नगरी का किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल की महानगरियों का ऐसा ही रूप, बसावट, सौन्दर्य और शोभा होती थी।

● ●

हमारे महत्वपूर्ण उपयोगी प्रकाशन

- प्रश्न व्याकरण सूत्र (दो भाग) (व्याख्या सहित)
- सूत्र कतांग (दो भाग) व्याख्या सहित
- भगवती सूत्र (चार भाग)
- जैन तत्व कलिका
- जैन योग : सिद्धान्त और साधना
- अमर दीप (दो भाग) (प्रवचन संग्रह)
- सचित्र उत्तराध्ययन सूत्र
- उत्तराध्ययन महिमा
- भक्तामर महिमा
- सचित्र अन्तकृद्दशा सूत्र
- अन्तकृद्दशा महिमा
- सचित्र कल्पसूत्र (शीघ्र ही)

पद्म प्रकाशन, नरेला मंडी, दिल्ली-४०